टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन

सारिका

कहानियों और कथा जगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष : २५: अंक :३८५: दिसंबर '८५ : द्वितीय पक्ष: मूल्य : ४ रुपये

कथा पीढ़ी विशेषांक : पांच

अगला अंक

नव वर्ष पर विशेष उपहार

संयुक्त पीढ़ी विशेषांक : एक

क्या हमें यह भूल जाना चाहिए कि हमने कभी नियति से हर आंख के आंसू पोंछने का वादा किया था...?

आज जब हमारे कदम इक्कीसवीं शताब्दी की ओर बढ़ रहे हैं... तब हम यह क्यों भूल जाते हैं कि भूख सारे संसार पर शासन करती है... भूख हर व्यक्ति पर शासन करती है, जब तक कि वह स्वेच्छा से मरने का फैसला न कर ले... और जीना भला कौन नहीं चाहता! मानव-जिजीविषा के विविध आयामों पर गंभीरता से विचार करते कहानीकार

□ हंसराज रहबर, हिमांशु जोशी, राजेंद्र राव, मालती जोशी, बल्लभ सिद्धार्थ, मंजुल भगत, अमर, उषा किरण खान, हेतु भारद्वाज, स्नेह मोहनीश, अरुण कुमार, अरुणा सीतेश, सुरेंद्र अरोड़ा, पृथ्वीराज मोंगा, और उदयन वाजपेई आदि की तात्कालीन कहानियां

□ वर्तमान कथा-पीढ़ी और कहानी सरोकार
पुष्प पाल सिंह का आलोचनात्मक आलेख

● आपकी बात, अपनी बात, पत्रकारों की पुस्तकें, लघुकथा आदि स्थायी स्तंभों सहित—

सारिका
1 जनवरी, 1986
पाठकों और शोध छात्रों के लिए संग्रहणीय दस्तावेज

पाठकों की बचत एवं सुविधा के लिए

हमें अक्सर पाठकों से शिकायती-पत्र मिलते हैं कि उन्हें 'सारिका' अपने बुक स्टॉल पर मिल नहीं पाती, उनके पहुंचने से पहले ही सारी प्रतियां बिक जाती हैं. पाठकों की सुविधा के लिए हम उन्हें सलाह देंगे कि वे अपना शुल्क आज ही ड्राफ्ट/मनीआर्डर के रूप में नीचे दिये गये कूपन के साथ हमें भिजवा दें ताकि उन्हें 'सारिका' डाक से नियमित भिजवायी जा सके.

शुल्क की रियायती दरें :
वार्षिक : **115** रुपये
अर्धवार्षिक : **60** रुपये

कृपया मुझे/हमें निम्न पते पर एक वर्ष/छह माह के लिए 'सारिका' भेजने की व्यवस्था करें. समुचित राशि संलग्न है.

नाम......................
पता......................
....
....
हस्ताक्षर..................

शुल्क तथा कूपन कृपया इस पते पर भेजें :
प्रसार अधिकारी,
सारिका, टाइम्स ऑफ इंडिया,
7, बहादुर शाह जफर मार्ग,
नयी दिल्ली-110002.

सारिका

टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन

कहानियों और कथाजगत की जीवंत पाक्षिकी
वर्ष : २५; अंक : ३९५; १६ से ३१ दिसंबर, १९८५

संपादक
अवधनारायण मुद्गल
उप-संपादक
रमेश बतरा
सुरेश उनियाल
बलराम
महेश दर्पण
वीरेंद्र जैन
सज्जा
सुमीता

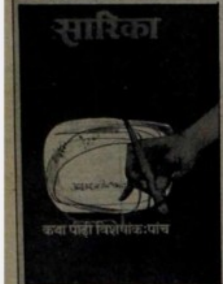

आवरण : आनंद

कथा पीढ़ी विशेषांक:पांच

कहानियां

9. पिशाच :
संजीव
14. अतिथि देवो भव: :
अब्दुल बिस्मिल्लाह
18. चल खुसरो घर आपने :
सुरेंद्र सुकुमार
22. सिक्का :
नासिरा शर्मा
25. एक सही निर्णय :
राधेश्याम
28. मेरे लोग :
सुरेंद्र मनन
31. बूढ़ा काकुन फिर उदास है :
प्रियंवद
35. पहाड़ :
नर्मदेश्वर
38. शोक :
पुन्नी सिंह
42. लुटेरे :
विभांशु दिव्याल
44. दृश्य-अदृश्य :
नरेंद्र निर्मोही
49. मिन्ना तुम लौट आओ :
अनीता मनोचा
54. मुट्ठी में क्या है :
नरसेम गुजराल
59. संवाद :
नरेंद्र मौर्य
62. छुट्टी का एक दिन :
केशव
66. इसलिए :
अशोक गुप्ता
70. बुतों का आत्मसमर्पण :
राजकुमार गौतम

विशेष आकर्षण

72. समकालीन हिंदी कहानी : आठवां दशक :
डॉ कृष्णदत्त पालीवाल

अन्य आकर्षण

27. समझौता :
सुरेश अवस्थी
34. कमीशन :
श्रीनिवास जोशी
37. बस चालक :
बलबीर त्यागी
51. कला की सामर्थ्य :
निर्मल वर्मा

स्थायी स्तंभ

6. आपकी बात
8. अपनी बात

संपादकीय पता : 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

कथा पीढ़ी विशेषांक: एक

कलम की जवानी

हिंदी जगत के इन स्वनाम धन्य अग्रज लेखकों की कहानियां हम वर्षों से पढ़ते आ रहे हैं. यही तो हमारे आदर्श रहे हैं. लेकिन हम दावे के साथ कह सकते हैं कि सारिका के अतिरिक्त इन्हें एक स्थान पर एकत्र करना मेंढकों को तराजू में तौलने जैसा दुरूह कार्य था. किंतु सारिका ने इस दुष्कर एवं दुरूह कार्य को करके अपने पाठकों पर बड़ा अनुग्रह, बड़ा उपकार किया है, शायद इससे कोई इनकार नहीं करेगा.

भैरव प्रसाद गुप्त की 'कंठी', शिवानी की 'लिखूं? निर्गुण की 'असत्य' इतनी मर्मस्पर्शी लगीं, कि तन, मन और दिल-दिमाग को कहीं बहुत भीतर से झकझोर दिया.

और बची हुई कसर को इसके संपादकीय 'अपनी बात' के अंतर्गत 'कथा पीढ़ियों में विरासत का अटूट सिलसिला' ने पूरा कर दिया. अपने इन बुजुर्ग लेखकों में से बहुतों के दर्शन और बातचीत करने का अवसर इन पंक्तियों के लेखक को मिल चुका है. लेकिन इनमें अब तक इतनी जीवंतता तथा ताज़गी है, इनकी कलम की जवानी देखकर आज अपनी जवानी पर शर्मिंदगी महसूस होती है.

0 सूर्य नारायण त्रिपाठी, इलाहाबाद.

काश, भैरव जी ने. . .

सारिका का यह अंक मन को छू गया. छू ही नहीं गया कुछ दिनों तक कसकर बांधे रहा. इस अंक के लिये बहुत-बहुत धन्यवाद.

भैरवजी की 'कंठी' ने तो मन को स्तब्ध और दिल को चीर ही दिया. काश ! उन्होंने 'कम्युनिस्ट' शब्द का प्रयोग नहीं किया होता तो इसकी धार कुछ और तेज होती. अमृत राय की 'अतिथि' पढ़कर तो मैं अपने को ही अपनी आंखों से चुराने लगा.

उत्तरछायावादी कवि कहलाने वाले अंचल जी ने 'एककहवा पांडे' में सीताराम का जो चित्र खींचा है वह देश के बड़े-बड़े समाज सुधारकों, क्रांतिकारियों और आदर्शवादियों को पीछे छोड़ देता है.

0 राधाकृष्ण सिंह, बेगूसराय (बिहार)

शुक्लजी के बाद भी बहुत कुछ है...

रजत जयंती वर्ष पर सार्थक विशेषांकों की शृंखला अब शुरू हुई. इन्हें हम एक विशिष्ट आयोजन कह सकते हैं.

कहानियां क्या थीं, इनका स्तर क्या था, इस पर चर्चा नहीं भी करें तो भी, एक साथ एक पीढ़ी के प्रमुख लेखकों का पढ़ना एक उपलब्धि ही है. एक तरफ जहां 'कंठी', 'कोई लेखक लाओ', 'प्रतिवाद' जैसी सार्थक कहानियां थीं तो दूसरी तरफ 'लिखूं?' . . . 'अतिथि' जैसी कोरी लफ्फाजी भी थी. वैसे शिवानी-जी की भाषा हमेशा की तरह मनोहारी रही.

'दस्तावेज' नियमित करें तो आभारी रहेंगे हिंदी पाठक. परंतु नहीं भायी तो सिर्फ एक बात, सन् 1929 से भी पहले लिखे गये आचार्य शुक्ल के हास्य-व्यंग्य संबंधी विचार पर आपकी सहमति. आज के संदर्भ में भी क्या आज हरिशंकर परसाई, श्रीलाल शुक्ल, अमृतलाल नागर, रवींद्र कालिया, शरद जोशी या आपके मथुरादास या नयों में प्रेम जनमेजय इत्यादि जी. पी. श्रीवास्तव और चांचजी से आगे नहीं बढ़े हैं ? मेरे विचार से तो हास्य-व्यंग्य से जो अपेक्षाएं आचार्य शुक्ल ने की हैं, "समाज के चलते जीवन के किसी विकृत पक्ष को, या किसी वर्ग के व्यक्तियों की बेढंगी विशेषताओं को हंसने-हंसाने योग्य बनाकर सामने लाना." परसाईजी के तो लेखन का आधार ही यही है.

0 अनुपम, जमालपुर-811214

कहानियों के खाने से बाहर

कथा पीढ़ी विशेषांक : एक अपनी कुछ विशेषताओं के कारण संग्रहणीय अंक बन पड़ा है. इस अंक में प्रकाशित सभी कहानियां उत्कृष्ट कोटि की हैं. शिवानी की कहानी 'लिखूं' की पात्र प्रिया दामले हिंदी कथा-साहित्य में एकदम नया चरित्र है. प्रिया दामले के साथ प्रकृति ने जो मजाक किया, वह कितना कारुणिक और हृदयस्पर्शी है. प्रभाकर माचवे का निबंध 'अधमरा कलकत्ता' कहानियों के खाते में असंगत प्रतीत हुआ.

0 अमय कुमार, चंपारण- बिहार.

थीम की तलाश में. . .

कथा पीढ़ी विशेषांक एक पढ़कर ऐसा लगा कि आपका यह प्रयास स्तुत्य है. फिर भी प्रतिक्रियावश दो शब्द कहने का साहस जुटा रहा हूं. क्या सोचकर आपने भैरव प्रसाद गुप्त की कहानी कंठी को पत्रिका में प्रथम स्थान पर रखा है? लगता है लेखक थीम की तलाश में आंचलिकता के व्यूह में फंस गया है. द्रौपदी के चीर की तरह कहानी को निबंधात्मक शैली में प्रस्तुत कर रहा है जो उसके हाथ से फिसल गयी है, हां अंत बेमानी-सा लगता है. सभी प्रकार के सभी कारण से दूर. अश्क की कहानी 'प्रियेजी' वही घिसे-पिटे कथानक पर आधारित है. नयापन कुछ भी नहीं. सौष्ठवता एवं सजीवता के नाम पर आउटपुट वही शून्य. पुरानी शराब को नयी बोतल में उड़ेलने के समान निष्फल प्रयत्न. . . जिसमें कहानीकार अपनी छवि को बचाये रखने में असफल हुआ है.

एक प्रश्न आपसे. . . क्या आप इस प्रकार की कृतियों को स्थान देकर पाठक को जीवंत पत्रिका सारिका तथा लब्ध प्रतिष्ठित लेखक से दूर रखने का अक्षम्य कृत्य नहीं कर रहे हैं?

ऐसा नहीं है कि मैं सभी कहानियों को निरस्त करने का दुस्साहस कर रहा हूं. शिवानी की कहानी 'लिखूं' . . . आभिजात्य वर्ग का एक सशक्त दस्तावेज बनकर उभरी है. उसमें संवेदना का उच्च स्वर मुखरित हुआ है. निर्गुण जी ने असत्य की परिभाषा दार्शनिकता के चिर-परिचित परिवेश से हटकर, हमारे बीच जी रहे पात्रों के माध्यम से सामाजिक परिवेश में प्रस्तुत की है. समाज की आंखें तो खोली है, साथ ही साथ एक ऐसी चुनौती भी प्रस्तुत की है जिसके बीच हमें भी रहना पड़ता है. नरेश मेहता की 'आबार ऐशो' पढ़कर मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे' की याद ताजा हो आयी.

पीढ़ियां : आमने-सामने—साहित्य के चार मूर्धन्य रचनाकर्मियों का विचार-विमर्श प्रस्तुत कर आपने सारिका को 'विशिष्ट पत्रिका' की संज्ञा देने का मुझ जैसे पाठक को अधिकार देकर और लाखों अन्य पाठकों को भी सम्मानित किया है.

0 धर्मेंद्र त्यागी, थाना (महाराष्ट्र)

क्या वे व्यंग्य के पात्र हैं

कहानी को साहित्यिक चर्चा के केंद्र में बनाये रखने का श्रेय सारिका को ही है. इस क्रम में पीढ़ियां : आमने-सामने, विदेशी कहानियां छापते हुए देशी कहानियों पर बहस तथा अब कथा पीढ़ी विशेषांकों का सिलसिला काफी महत्त्व के कहे जा सकते हैं.

कथा पीढ़ी विशेषांक-एक काफी रोचक लगा. 'कंठी' कहानी का प्रभाव सकारात्मक होने के बावजूद उसमें एक गंभीर संरचनात्मक अंत-विरोध है. जमींदार-पुलिस द्वारा उत्पीड़ित ग्रामीण किसानों के संघर्षशील नेता रामाधार को—झूठ बोलकर पुलिस के चंगुल से बचा लेने के नाते ग्रामीणों को गत्ती भगत की कंठी टूट गयी क्यों लगती है? और उन्हें ताज्जुब और अफसोस क्यों होता है?

इसके विपरीत गत्ती का वह व्यवहार ग्रामीणों की नजर में उन्हें क्या और सम्माननीय नहीं बनाता है? इतने मानवीय और क्रांतिकारी व्यवहार के बाद भी क्या वे व्यंग्य के पात्र ही रह जाते हैं? जैसा कि कहानी कंठी में घटित हुआ है.

भैरव जी जैसे समर्थ और अनुभवी कथाकार की कलम से हुई यह चूक भी कम ताज्जुब और अफसोस की बात नहीं है.

O मदन मोहन, गोरखपुर, 273001

सवाल कीमत का. . .

सारिका ने पिछले दो वर्षों में विशेषांकों की एक नयी परंपरा का प्रवर्तन किया. कथाधारा में नये कथाकारों का प्रतिनिधित्व, मानवीय संवेदना, समकालीन सरोकारों से जुड़ी कहानियां. बधाई लें.

एक बात 'दशार्क' की समीक्षा के बारे में. दशार्क बहुचर्चित तथा विवादास्पद उपन्यास है लेकिन यह शायद बुद्धिजीवियों अथवा पुस्तकालयों अथवा शौकीन पूंजीपतियों के लिए है. आम पाठक इसे कैसे खरीदेगा? मात्र 200-250 पृष्ठों का उपन्यास और मूल्य रु. 60.00 जैनेंद्र जो पैसे के दुश्मन हैं, पैसे पर बहुत लिखा है, यह उनकी किसी कुंठा का तो परिणाम नहीं है?

O अगरचंद नाहटा, जालौन-285123

एक सुखद अनुभूति

कथा पीढ़ी विशेषांक-एक दिल की गहराइयों तक अभिभूत कर गया. हालांकि सभी कहानियां एक विशिष्ट अंदाज में लिखी गयी हैं, फिर भी उपेंद्रनाथ अश्क की 'प्रियेजी' व अमृतराय की 'अतिथि' नामक कहानी ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया. कहानियों के अलावा परिचर्चा प्रेमचंद कौविरासत और कहानी का सिलसिला का पठन-पाठन एक सुखद अनुभूति थी, जिसमें सभी वरिष्ठ कथाकारों के विचार अत्यंत प्रामाणिक प्रतीत हुए. बहरहाल, विषय-विशेष पर सशक्त व सराहनीय प्रस्तुति के लिए साधुवाद.

O मंजु जुनेजा, कटनी (म.प्र.)

एक झुरझुरी

कथा पीढ़ी विशेषांक : एक में शामिल समस्त कहानियां स्वाधीनता से पूर्व लिखना आरंभ कर चुके साहित्यकारों की कलम में धार प्रमाणित करने में सफल नहीं हो पायी है. इक्का-दुक्का कहानियों को छोड़कर अधिकांश कथायें 'ऊंची दुकान फीके पकवान' वाली कहावत चरितार्थ करती रहीं.

प्रियेजी में बेमेल शादियों के कारण पीड़ा भोगती नारी की बेचारगी का सूक्ष्म अंकन उपेंद्रनाथ अश्क ने रोचक शैली में किया है. कहानी की नायिका को गोल, सुडौल और धमंनु दिखाने के बावजूद उस पर कलुषित होने की मोहर न लगाकर अश्कजी ने यह साबित कर दिया है कि वे उम्र और सीनियारटी से भले पहली पीढ़ी के लेखक हों, लेकिन पाठकों के स्वाद की बदलती राय से वाकिफ होने के कारण वे आनेवाली पीढ़ियों को भी मोहते रहेंगे.

दूसरी ओर प्रभाकर माचवे ने 'अधमरा कलकत्ता' में लंबी बोरियत ठूंसने के अलावा कुछ नहीं किया है. कलकत्ता उनके लिए चाहे जीता जागता रहा हो या अधमरा, आम आदमी के लिए तो उसका वजूद महज भारतीय नक्शे के एक महानगर से बढ़कर नहीं है.

लघुकथा संवेदन पढ़ने के बाद आयी झरझुरी को मैं एक पखवाड़े बाद भी विस्मृत नहीं कर पाया हूं. कदाचित् इस अंक की सबसे गहरी कहानी यही है.

O शशांक दुबे, उज्जैन (म.प्र.)

'सरस्वती' के बाद

सरस्वती के बाद सारिका ही एक परंपरा निभानेवाली पत्रिका दिखाई देती है. जिसका हर अंक अपनी साहित्यिक गरिमा-युक्त है.

हिंदी कथा साहित्य की प्रगति तो अवश्य हुई है पर अधिकांश नये हिंदी कथाकारों में अनुभव की पूंजी की कमी दिखाई देती है. जिससे वे कोरी कल्पना की रस्सी पर सर्कस के कलाकारों की तरह एक-दो कहानी-संग्रह लिख चुक से जाते हैं.

'सारिका' नियमित पढ़ता हूं. इस संग्रह को कंठी, प्रियेजी, एककहवा पांडे और असत्य बड़ी सशक्त कहानियां लगीं. अंचलजी का कलाकार अभी भी कितना सशक्त है. कहानी पढ़कर आश्चर्य हुआ. काश कि हिंदी कथाकार अपनी भाषा शैली में इतने सरल हो जायें कि वे कक्षा के पाठकों तक सीमित न रहकर 'मास' तक पसर जायें—तभी हिंदी कथा साहित्य विकसित हो सकेगा. □

0 प्रो. सुरेंद्र शुक्ल, चंदपुर, (म. प्र.).

निर्मल वर्मा पुरस्कृत

'परिंदे', 'जलती झाड़ी', 'पिछली गर्मियों में', 'बीच बहस में' और 'कव्वे और काला पानी' जैसे कहानी संग्रहों के जरिये निर्मल वर्मा ने अपनी पहचान एक विशिष्ट कथाकार के रूप में बनायी है. लंबे समय तक अपने देश से बाहर रहने की वजह से निर्मलजी के भीतर एक अलगाव-सा उत्पन्न हुआ है. यह अलगाव कभी-कभी उन्हें बोझ भी जान पड़ता है किंतु यही उन्हें अपनी जातीय अस्मिता और संस्कृति को एक ऐसे कोण से देखने का अवसर भी देता रहा है जहां भ्रम और भुलावे की गुंजाइश बहुत कम है.

पहले संग्रह के बाद से अब तक चर्चित बने रहने वाले निर्मल वर्मा अपने लेखन में निरंतर खतरे उठाते रहे हैं. उनके बदलते दृष्टिकोण और लिखी जा रही नयी कहानियों का लेकर प्रायः आलोचकों में चर्चा बनी रही है. हाल ही में नये कहानी-संग्रह 'कव्वे और काला पानी' पर वर्ष 1985 के लिए उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया है.

सारिका-परिवार की ओर से इस अवसर पर निर्मलजी को हार्दिक बधाई. □

रेणु रचनावली : एक निवेदन

युवा, कवि-पत्रकार भारत यायावर अमर कथाशिल्पी फणीश्वरनाथ रेणु की रचनावली और उनकी जीवनी पर काम कर रहे हैं. अतः रेणुजी के मित्रों, परिचितों तथा पाठकों से आग्रह है कि वे रेणु की असंकलित या अप्रकाशित रचनाओं, पत्रों तथा जीवनी-संबंधी तथ्यों की सूचना निम्नलिखित पते पर दें. संभव हो तो सामग्री मूल रूप में भेजें, जिसकी फोटो प्रतिलिपि कराकर मूल को अविलंब सुरक्षित लौटा दिया जायेगा अथवा स्वयं ही उसकी फोटो प्रतिलिपि कराकर भेज दें. □

● भारत यायावर, कदमा, हजारीबाग (बिहार)

अपनी बात

यह अंक सारिका के रजत जयंती वर्ष का समापन अंक है. यह वर्ष सारिका के लिए विशेषांकों का वर्ष रहा— इस बात की घोषणा हमने वर्ष के प्रारंभ में ही कर दी थी. 'सारिका को इतने विशेषांक निकालने चाहिए या नहीं', इस बात को लेकर बीच-बीच में कई तरह के विवाद उठे लेकिन पाठकों और अधिकांश रचनाकारों ने, विशेष रूप से युवा रचनाकारों ने, सारिका के इन वर्षगामी आयोजनों का समर्थन ही किया. इस समर्थन ने हमें अतिरिक्त शक्ति दी. यद्यपि किसी भी पत्रिका के लिए साल में चार या पांच विशेषांक निकालना ही काफी श्रमसाध्य और कष्टसाध्य कार्य होता है लेकिन सारिका ने 24 विशेषांक निकालकर विशेषांकों की परंपरा में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया. आप स्वत: अनुमान लगा सकते हैं कि इस कार्य में मेरे साथियों को कितना श्रम करना पड़ा होगा.

रचनाकारों की इस पांचवीं और ताजा पीढ़ी में कितनी ताजगी है यह तो इनकी रचनाएं ही बता सकती हैं लेकिन एक बात इस पीढ़ी के बारे में अवश्य कही जा सकती है कि पिछली पीढ़ियों की अपेक्षा इस पीढ़ी के पास लेखन और प्रकाशन के साधन अधिक सुलभ रहे हैं. मीडिया का अपने लिए भरपूर इस्तेमाल किस तरह किया जाये, इस बात को यह पीढ़ी बहुत अच्छी तरह जानती है. जल्दी से जल्दी अपने आपको स्थापित देखने की ललक और उसे पूरा करने लिए बिछायी गयी गोटें, जोड़-तोड़ और गुटबंदी आदि किसी न किसी रूप में सभी पीढ़ियों में रहे होंगे. यदि इस पीढ़ी में यह गुण अपेक्षाकृत थोड़ा ज्यादा भी है, तब भी न तो उसे बुरा ही कहा जा सकता है और न उसके आधार पर इस पीढ़ी का मूल्यांकन ही किया जा सकता है. मूल्यांकन के लिए अंततोगत्वा रचनाएं ही आधार बनेंगी. इसलिए इस पीढ़ी के रचनाकारों को सार्थक लेखन की निरंतरता पर ही सर्वाधिक ध्यान देना होगा.

इस पीढ़ी में सबसे बड़ा दोष जो लगभग सभी को नजर आ रहा है, वह है इसका किताबों की दुनिया से अलग हटना. दुनिया में क्या लिखा जा चुका है और क्या लिखा जा रहा है, इस पर नजर रखना उतना ही जरूरी है जितना अपने लेखन और अपने लेखन की विकास प्रक्रिया पर नजर रखना. खुद की चिंता तब तक सार्थक नहीं हो सकती जब तक कि हमारे मन में दूसरों की चिंता समान रूप से समाहित न हो. दरअसल यह दूसरों की चिंता ही किसी न किसी रूप में या सीधे-सीधे हमें सामाजिक सरोकार से जोड़ती है. और आज के लेखन के लिए यह सरोकार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है. इस सरोकार का कम होते जाना लेखन की सार्थकता का कम होते जाना है. ऐसा होना रचनाकार, रचना, रचनाधर्मिता और रचना संसार, सभी के लिए अहितकर है.

कथा-पीढ़ी विशेषांकों के इन आयोजनों में बहुत से लेखक बंधु छूट गये हैं. उनमें से अधिकांश को हम पूरे सम्मान के साथ अगले दो विशेषांकों में ले रहे हैं. फिर भी यदि कुछ रह जायें तो हम उनसे अग्रिम क्षमा मांग रहे हैं. सबसे अधिक क्षमाप्रार्थी मैं अपने ही संस्थान से जुड़े रचनाकारों से हूं. एक ओर जहां मुझे इस बात की बेहद खुशी है कि हमारे संस्थान के पास संख्या में सबसे अधिक युवा रचनाकार हैं, वहीं इस बात का अफसोस भी है कि मैं उन्हें इन आयोजनों में शामिल नहीं कर पाया. मेरे मन में इन सबके स्वतंत्र रचनात्मक व्यक्तित्व के प्रति समान आदरभाव है. मैंने मृणाल जी से ही विशेष आग्रह करके अपने इन सब साथी रचनाकारों की युवा चेतना का प्रतिनिधित्व करवा लिया है.

अगले वर्ष फरवरी से हम कुछ नयी योजनाएं, नये स्तंभ प्रारंभ कर रहे हैं और छूटे हुए स्तंभों का सिलसिला फिर से मिलाने की कोशिश कर रहे हैं.

अ. ला. उक्किल.

पांचवीं पीढ़ी: खुद की चिंता से दूसरों की चिंता अधिक महत्त्वपूर्ण है!

भारतीय जनजीवन में सबसे अधिक कुटिल, क्लेशदायी और दमनकारी तत्व है सामंतवाद! सभी चाहते हैं कि वह समाप्त हो, लेकिन सामंतवाद है कि दिनोंदिन और तेजी से भारतीय जनजीवन को अपने शिकंजे में कसता जा रहा है, क्यों और कैसे? बता रहे हैं आठवें दशक के सर्वाधिक चर्चित कथाकारों में से एक, जो 'सर्कस', 'किसनगढ़ के अहेरी' और 'सावधान, आगे आग है' जैसे महत्वपूर्ण उपन्यास लिखकर अपनी और भी संभावनाओं के संकेत दे चुके हैं—

पिशाच

संजीव

हर साल यह अनुमान लगाया जाता कि महातम बाबा इस साल नहीं बचेंगे, लेकिन साल थे कि तमाम हो जाते और बाबा की सांस चलती रहती. कभी लगता, इस बरखा में सूखे पत्ते की तरह भीगकर गल जायेंगे बाबा. सावन-भादों उनका कुछ न बिगाड़ पाते तो माघ-पूस में अटकलें लगायी जातीं. जाड़ा भी बीत जाता तो जेठ-बैशाख की लू में हमें उनकी मौत चिलचिलाती नजर आती, मगर कहां...

पिड़काने के लिए बहरे बाबा से कोई ऊंची आवाज में बोला, "बाबा, इस बार चंदन का पेड़ बड़े शौक से कटवाया आप की खातिर, मगर..."

बिना आग-घी के सुलग उठते बाबा, "बच्चा, हम तुम्हें जलाये बिना नहीं जलेंगे. तुम्हें ही क्यों, तुम्हारे बेटे-बेटी, नाती-पोतों को भी."

झूठ नहीं कहते बाबा. जवानी और अधेड़ उम्र की बात तो जाने ही दीजिए, जब वे जेठ की दोपहरी की तरह तप रहे थे, इधर इस उम्र में भी, जबकि उनके हाथ-पांव अशक्त हो चुके हैं, वे गोसाईंजी की अमूर्त सत्ता की तरह अक्षय हैं—पग बिनु चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै बिधि नाना! महज सोंटे के सहारे भचकते, टटोलते वे दिशा-फराकत, खेत-खलिहान, कुआं-इनारा सब छान मारते हैं. कभी दम मारने के लिए दो पल बैठ गये और किसी शरारती की नजर पड़ गयी, "यह क्या बाबा, भला रमेशर के खेत में... ?" बाबा फौरन हमराते हुए उठकर अपने बेजान हाथों से धोती झाड़ते हुए सोंटे से टटोलकर दूसरी जगह आ बैठते.

अब कोई दूसरा टोकता, "राम-राम बाबा, ये क्या? रमेशर की जमीन में क्यों बैठे हैं?" बाबा लड़खड़ाते हुए वह जगह भी तज देते, "हम का खोढ़र में पैदा हुए थे? जहां देखो, उसी सारे की जमीन."

तीसरी बार टोकने का मतलब था, उनके शब्दभेदी डंडे की चोट खाने के लिए तैयार रहना. रमेशर नौजवानी तक बाबा का खास चेला हुआ करता था. कहते हैं, रमेशर की मां मुसम्मात बनकर कभी बाबा की पनाह में आयी थी. बाबा की जिस्मानी हविश के जितने स्त्री-पुरुष शिकार हुए होंगे, उनमें रमेशर की मां और रमेशर का नाम सबसे ऊपर आता है. कभी बाबा ने दस बिस्से का गुप्तदान दिया था मुसम्मात को, लेकिन अब लगता नहीं कि वे बातें सच रही होंगी. आज तो रमेशर ने जिस कल-बल-छल से बहुतेरे गरीब किसानों, मुसम्मातों और ग्राम समाज की जमीन हड़पी है, उसी विधि से बाबा की सारी जमीन. जब उसने उनका चौकवा जैसा उपजाऊ खेत भी कब्जिया लिया तो बाबा ने जनेऊ तोड़कर सदा के लिए पीपल के पेड़ पर टांग दिया और प्रतिशोध न लेने तक प्रतिज्ञा कर ली कि जनेऊ नहीं पहनेंगे. जीते जी 'ब्रह्म-पिशाच' बन गये बाबा! गोसाईंजी ने कहा है न कि जो इंद्र के वज्र, शिव के त्रिशूल, परशुराम के परशु और विष्णु के चक्र से नहीं मरता, वह विप्र के रोष की आग में जलकर भस्म हो जाता है! शायद इसीलिए...

अगर बाबा अक्षय पुरुष हैं तो पीपल अक्षय वट—जैसे दो जुड़वा संतानें, जैसे मूर्त शरीर और मूर्त आत्मा! श्रद्धालुओं का चढ़ाया जल पी-पीकर पीपल की जड़ें पास-पड़ोस के घरों में सेंध मारने लगी हैं; स्वयं बाबा की बखरी तक सुरक्षित नहीं, मगर बाबा उसे काटना तो दूर, छूने तक नहीं देना चाहते. पीपल पर गीधों का बसेरा रहता, वो डगराये ढोर-डांगरों को दूर से देखा करते. लाल-लाल ललरीवाले गीध पंख फड़फड़ाते तो लगता, हम श्मशान में बैठे हुए हैं. पतझड़ के मौसम में जब पीपल का तिलिस्मी अंधेरा तार-तार हो उठता, तब गीधों की ललरी देखकर लगता; खूनी जीभें उग आयी हैं पीपल पर, जगह-जगह.

गर्मी की दोपहरियां सांय-सांय बजतीं, लू की लपटों से लरजती दिशाएं. पखेरू तक घने पेड़ों के साये में जा छिपते. बाबा तब निकलते शिकार के लिए, दबे पांव बिल्ली की तरह. पानी के परदे की तरह कांपते

सीवान में मेड़ें हिलते हुए चब्बों की मानिंद लगतीं. उन्हें अनुमान लगाते देर न लगती कि यही वक्त है, जब मेड़ों को गन्ने के खेत में चरने के लिए छोड़कर गड़रिये उन्हें सामने न पाकर पीपल पर पत्ते तोड़ने के लिए चढ़े होंगे. अब नीचे बिल्ली से बाघ बनकर बाबा पंछ फटकारते हुए अपने नुकीले दांत निकाल लेते, "हेला के सारे, पेड़ तुम्हारा बाप लगा गया था क्या? उतर नीचे तेरी मां की. . . !"

गड़रिये अपनी असतर्कता को लाख-लाख कोसते, न ठहर पाते, न उतर पाते. कई तो हरहराकर पेशाब ही कर बैठते. एक बेचारा कलेशार तीन दिन, तीन रात टंगा ही रह गया डर के मारे. उसे उतारने के लिए आसपास के गांव तक के लोग जमा हो गये!

उतरते ही लात-मुक्कों से स्वागत हुआ और हर गड़रिये की तरह उसे अपनी लग्गी-कंबल से हाथ धोना पड़ा. कहते हैं, ऐसी ही लग्गियों से बाबा की दालान छायी जाती और वैसे ही कंबल मेहमानों को ओढ़ने-बिछाने के लिए दिये जाते.

यह तो हुआ सजा का एक नमूना, बाबा की बख्शीश का हाल पूछना हो तो जहूरे से पूछिए, लेकिन पूछिएगा किससे? कलेशार की तरह बाबा को सरापते-सरापते वह भी सरग सिधार चुका है. गली से जब भी कोई सारंगी बजाता जोगी गुजरता है, अनायास ही जहूरे की याद ताजा हो आती है . . . मृत्यु नहीं, जीवन की रागिनी.

लहंगा-पटोरा पहनकर जवान जहूरा सारंगी बजाते हुए नाच-गा रहा है—'अबकी बम्हइया बाबा घरवा बाजे . . . ' महातम बाबा के घर लड़की हुई है. माता-भगिने की सारी कथा सुनाते-सुनाते दिन कहां का कहां गया, मगर बख्शीस न मिला तो जहूरे चला आया बख्शीस लेने खलिहान में, "बड़ा आतमा जलता है बाबा, लछमी आयी है, कुछ दान-पुन्नि होइ जाये."

बाबा ओसाई के बाद अपनी फसल की लछमी को बजार में पहुंचवाने के फेर में थे कि यह पटराग सुनकर जहूरे की मनहूसियत पर आगबबूला हो उठे. पांव का पौला निकाला, मगर कुछ सोचकर कुटिलतापूर्वक मुस्कराते हुए रख दिया, "निकाल अंगोछा, तिरपित कर दें आज."

मुंह की तरह फैला दिया जहूरे ने अंगोछा. अंजुरी से जौ डालने लगे बाबा, "बोल, पेट भरा?"

"अबहीं नांय बाबा."

"अब . . . . ?"

"नांय महाराज."

"ले और ले, अब. . .?"

जहूरे की जहनियत अब फूटी तो भाखा स्वतः बदल गयी, "भर गया बाबा, अब बस करो. . . भर गया महाराज!" जहूरे जौ को कौन कहे, अपना अंगोछा तक छोड़कर अपने लहंगे में उलझते-गिरते-पड़ते भाग खड़ा हुआ.

जहूरे को दोबारा मार तब खानी पड़ी थी, जब उमाकांत के पैदा होने पर वह बधाई गाने नहीं गया. यह बात मुझे आंख मुलमुलाते हुए शिव ने बतायी थी और शिव की कथा झन्नू सिंह ने.

शिवजतन उन दिनों उठता हुआ बदमाश था. झन्नूसिंह के मिटहुर से कहरवा टेरते हुए ऊसलें हटा रहा था कि बिच्छू ने डंक मारा. झन्नू सिंह ने सुझाव दिया, "महातम बाबा के पास चले जाओ. उनसे अच्छा बिच्छू कौन झाड़ सकता है भला!"

बस, यहीं, मुरहा-मुरहा की भेंट हो गयी. बाबा ने खैनी ठोंकी, होंठों में दबायी और कहा, "बैठ, दो मिनट में बीछी झाड़ते हैं. ताक तो हमारी आंख में."

डबडबायी आंखों ने जलती आंखों में ताका और खैनी की लुगदी समेत पूरी पीक पिचकारी की तरह शिवजतन की आंखों में.

सच मानिए, बिच्छू का जहर उतर गया. यह अलग बात है कि आंखें जानलेवा दर्द के मारे हफ्तों न खुलीं और सीतापुर के डॉक्टर भी आंखों की पूरी रोशनी वापस न ला सके.

कलेशार और जहूरे की तरह शिवजतन भी अपनी मुलमुलाती आंखों से बाबा को सरापते सुरलोक सिधार गया, मगर महातम बाबा. . .

"लोहा, लोहे को काटता है, जहर, जहर को मारता है और दर्द दर्द को दबाता है." यह है बाबा का मंत्र, जिससे सांप, बिच्छू, कुकुर तो क्या आदमी तक का जहर झाड़ते हैं. वैसे फूलों के बारे में उनका मंत्र विलोम में चलता है, "फूल तो फूल से नहीं, सुई-कांटे से ही बस में किये जा सकते हैं."

मेरा पूरा परिवार गवाह है इन मंत्रों की शक्ति का. एक तरह से उनके बंधुआ मजदूर थे हम. मेरे बाबा और दादी महातम बाबा के खेत के कौए-सुग्गे हड़ाते, दादा और काका हलवाही करते, मां और काकी अंदर से लेकर बाहर तक के सारे काम. शाम को मिलनेवाली मजूरी, जो प्रायः किनकी, कोदों या घुन लगे जौ-मक्का की होती, को पीस-पीसकर रोटी बनती.

अक्सर हम जांत के आरोह-अवरोह, बर्तनों की खनकती आवाजों को सुनते-सुनते सो जाते, पता नहीं कब नींद में ही हमें मां खिलाती! सुबह यकीन भी न होता कि रात के तीसरे पहर हमने खाना खाया भी था या नहीं. भैया कुछ बड़े हुए तो महातम बाबा के ढोरों की चरवाही में जोत दिये गये. बीच में गोरू दूसरों के भरोसे छोड़कर उन्हें बाबा को चबैना पहुंचाने के लिए आना पड़ता.

अइया (दादी) लावा भूनती मकई के, महातम बाबा के लिए! बेले के फूल की तरह खिले सोंधी गंधवाले लावे मउनी में भरकर ले जाने होते महातम बाबा के पास. हमें ठुरीं तक छूने की इजाजत नहीं थी; उसे अलग से पहुंचाना पड़ता. पूरा हिसाब लेते बाबा. मौन आमंत्रण देते वे धवल लावे भूख के. डरते-डरते एक बार एक लावा उठाकर सुनसान गली में मुंह में डाला भैया ने!

"हूं!" मैं आम के पेड़ से परिंदे की तरह चहका. डर के मारे लावा गटक गये भैया. बंदर की तरह उतर आया मैं पेड़ से, "मुझे भी एक दे दो, नहीं तो बता दूंगा."

"ना." वे मउनी को मेरे नन्हें हाथों की पहुंच से ऊपर उठाने लगे.

"तो मैं बता दूं जाकर?"

पस्त हो गये भैया. लाचारी में एक लावा मुझे भी देना पड़ा.

महातम बाबा का पेट साक्षात अगस्त्य ऋषि की तरह था, जिसके अंदर हमारी जीभ के सारे स्वाद बंदी बने कुलबुला रहे थे. भोजन तो भोजन, उनके डर से औरतें चटख कपड़े तक न पहन पातीं. उनकी व्यवस्था में तनिक फेर होते ही शक में उनकी त्योरियां चढ़ जातीं.

अलबत्ता काका जनम के मुरहा थे, सो कभी-कभी पगहा तुड़ा बैठते. अक्सर वे बाबा के घर की बासी चीमड़ मोटी रोटियों को देखकर भड़कते और अइया उनके लिए जाने कहां से सत्तू का प्रबंध कर देतीं. महातम बाबा मार-डांट के बाद भी उन्हें कड़ी सजा न दे पाते तो सिर्फ इसलिए कि उन जैसा कमेरा हलवाहा उन्हें परगने में ढूंढ़े न मिलता. काका दिनभर हाड़-तोड़ परिश्रम करते तो रात को घोड़े बेचकर सोते. बहुत दिन यह नहीं चल पाया. महातम बाबा ने आखिर रात को आम की बड़की बाग की रखवाली उनके जिम्मे कर दी. हम काका की सोने की फितरत से वाकिफ थे, सो रात को चुपके-चुपके कुछ आम चुन ले जाया करते. एक रात हम आम चुन ही रहे थे कि महातम बाबा का सोंटा छपाक-सा करौंदे की झाड़ियों पर बजा. अगर वे झाड़ियां वहां न होतीं तो निश्चय ही हमारी कपाल-क्रिया हो जाती. उधर काका तीन-चार थप्पड़ खाने के बाद कच्ची नींद में उजबक की तरह हड़बड़ाकर उठ बैठे. अंधेरे में आंख मिचमिचाकर देखा तो उनकी दुखती आंख के सामने महातम बाबा का जिंदा ब्रह्म पिशाच था, "सारे, इहै रखवारी कर रहे हो? इधर तुम सोई रहे हो तान के, उधर तुम्हारे बहनोई आम बीन लेई गये." काका ने रोते हुए पहली बार महातम बाबा को गलियाया, "जा ससुर, तेरे जीते जी अब गांव में कदम नहीं रखेंगे." सुबह होते ही वे गांव का सीवान पार कर जो गये कि आज तक नहीं लौटे. न बाबा मरते हैं, न उनका लौटना होता है.

बाबा के कान-आंख जब तक दुरुस्त रहे, वे खुद ही रखवाली करते रहे बाग की और उनकी सत्ता कायम रही. जब भी कोई गुबार उठता, लोग यह कहकर दबा देते कि 'गौ और बामन पर हाथ नहीं उठाना चाहिए.' हालांकि बाबा स्वयं इस नियम के पाबंद नहीं थे—समरथ को नहिं दोस गुसांईं. जिस दिन बाबूलाल दूबे की गाय उनकी अरई में पड़ी, बाबा के लड़के उमाकांत और रमाकांत ने गौ और ब्राह्मण की वो कसकर पिटाई की कि गाय मरते दम तक लंगड़ाती रही और दुबे को हफ्तों हल्दी-मट्ठा पीना पड़ा. गांव की बागडोर तब तक रमेशर के हाथों में आ गयी थी, मगर उसका सुभाव भी बाबा की लकीर से अलग नहीं था, "संतोष करो दुबे, भगवान के घर नियाव होगा."

भगवान के घर के नियाव था तभी तो रमेशर ग्राम प्रधान बनकर गांव की जमीन हड़पता जा रहा था. इधर बाबा के आंख-कान, हाथ-पांव कुम्हलाने लगे थे. एक नियाव वह बाबा की जमीनों को हड़प कर चुका था, दूसरा नियाव उसने यह किया कि उमाकांत और रमाकांत को बुलवाकर आम की फसल कुजड़ों के हाथों बेच देने का सुझाव दिया. महातम बाबा ने ना-नुकुर की तो लड़कों ने पहली बार उन्हें डांटकर चुप करा दिया, "न पढ़ाये, न लिखाये, कहां से कमाकर लायें कि घर में चूल्हा जले?" महातम बाबा लाचार थे, चुप लगा गये, लेकिन बाहर वालों के लिए उनकी शेखी में कोई फर्क न आया, "लो सारो, अब खाओ आम!" वैसे, एक हूक उन्हें रह-रहकर सालती—जो मजा आम चुराने वालों को मारने-गलियाने में था, वह इस बनियागीरी में कहां!

जिस दिन आम की फसल बिकती, दोनों लड़कों में तकरार शुरू हो जाती, जो महीनों रहती. बीच-बचाव के लिए रमेशर ही आता.

आखिर चौकवा खेत को जिस दिन अपने एहसान के एवज में रमेशर ने कब्जिया लिया, बाबा ने जनेऊ तोड़कर पीपल पर टांग दिया और पीपल के तले ही एक झिलंगी खाट डालकर कल्पवास ले लिया. बाबू राम दुबे की टिपोरी थी, "लगता है, पीपर के ऊपर बसेरा लेने वाले गीधों में से एक झिलंगी खाट पर आ गिरा है." मदरसा जानेवाले बच्चों का एक प्रिय शगल हो गया था. आते-जाते आम के पेड़ पर ढेला फेंकना. ढेले इस अंदाज में फेंके जाते, मानो कोई पका आम पत्तों की खड़खड़ाहट पैदा करता हुआ खाते में ढब्ब-सा जा डूबा है. मौसम न होने पर भी बाबा चौकन्ने हो जाते. हालांकि उन्हें यह भी पता न था कि लड़कों ने यह बाग भी गिरवी रख दिया है, रमेशर के पास.

बाबा के प्रति अपनी खायी कसम के चलते काका तो फिर गांव न गये, मगर बाकी लोग जाते रहे हैं. जाने पर पुरानी रैयत की तरह सलामी भी देते हैं. साबुन की टिकिया, गमकउवा साबुन, हिम ताज तेल, धोती गमछा. बाबा हाथ से टटोल-टटोलकर, सूंघ-सूंघकर बच्चे की तरह खुश होकर असीसने लगते, "जहां रहो, कल से रहो. औरो तरक्की होइ जाये!" फिर धीरे-धीरे उनके जख्म खिलने लगते आत्मीयता की सिहरन पाकर, "भैया, अच्छा किये जो ई दलिद्दरों की नगरी छोड़ दिये. गांव अब ऊ गांव रहा कहां? पेट से निकलते ही बच्चों को पखना निकल आता है. धरम-करम गांव छोड़कर भाग रहा है. कोई पुतरा पैलगी नहीं करता, अब उल्टे तुम किसी को ढंग से पुकार तक नहीं सकते. जहर भी बोलना है तो मधु में बोर कर बोलो. इस पर भी हरवाह-चरवाह ढूंढ़े नहीं मिलता. बाबूलाल दुबवा ससुर को देखो, बामन होइके हर जोतता है और हमरे लड़के सार रमेशरा की टहलई करते हैं. उस सार ने धीरे-धीरे सारी जमीन कब्जिया ली. परधान होई गया है अब. कहता है, 'सारी जमीन ग्राम-सभा की है.' पूछो ग्रामसभा की है कि ग्राम परधान की. कहता था ई पीपर भी कटेगा. लड़के सार बानर

● संजीव

बकलोल! हमें कहते है, चुप रहो, फटर-फटर न करो'. ससुरे अब नीच जातिन को खाट पर बैठाई लेते है. पतोह, नातिन तक का कौनू परदा नहीं. सोचते हैं, बाबा आन्हर है बहिर है, का समझेंगे! अरे बच्चा, इही करेजे में सब कुछ धुरता है दिन-रात! उस बार आने लगा तो बोले, "बचवा, कौनू नौकरी-चाकरी होय शहर में तो हमरे नतियवन को लेई जाओ. और नहीं तो उहां तुम्हारा भोजन ही पकायेंगे या दरबानी ही करेंगे. हम और कुछ नहीं देई सकते तो बामन है, असीसेंगे ही."

मांगनेवाली मुद्रा पर मेरे अंदर प्रतिशोधात्मक तृप्ति बूंद-बूंद रिसने लगी. मैंने अंगड़ाई लेते हुए कहा, "बाबा, परदेश में नौकरी-चाकरी की समस्या बड़ी खराब है. यहां ट्यूबवेल वगैरह पर ही काम पड़ा है; आप चाहें तो मेरे घर पर ही...."

बाबा के चढ़ते तेवर को देखते हुए मेरी बात हलक में ही फंस गयी, वे उखड़ गये, "तुमरी हिम्मत कइसे पड़ी ई कहने को...? इहां हमरे लड़के तुम्हारे घर काम करेंगे, भूलि गये कि तुम काउ हो और हम काउ है? चार पैसा कमाने लग गये तो हमें मोल खरीद लोगे....!" वे कांपते हाथों से उपेक्षापूर्वक मेरा दिया सामान इधर-उधर फेंकने लगे थे.

बाबा को गलियाता हुआ छोड़कर मैं भय और आश्चर्य की दहशत में विपण्ण मन से लौट पड़ा. . . इसके क्या मायने? परदेश में मेरी टहलुई कर सकते है, मगर यहां नहीं यानी यहां अब भी रौब गांठते रहेंगे?. . . अचानक एक कंकड़ी लगी पीठ में. ठिठक गया. क्या बाबा ने मारा. . .? न, वे हाथ-पांव, आंख-कान से इतने आशक्त है कि. . . तभी नजर गयी, सुमन पर.

बाबा की सबसे छोटी नातिन दरकी दीवारों पर मिट्टी थोप रही थी. बिथुरे-बिथुरे बाल, लदी धोती, आंखों में सलोनापन. बोली, "गोइठें में घी सुखवाकर क्या होगा?" मेरा साहस बढ़ा. याद आया, यह वही गली थी, जिसमें कभी हमने और भैया ने चुराकर मकई के लावे चखे थे. उन अपमानों का बदला आज लिया जा सकता है. एक बार फिर वैसा ही कुछ कर बैठने की चाहना मचलने लगी. इस बार वर्जित लावा नहीं, वर्जित फल, भूख नहीं प्रतिक्रियावश मैं सांप की तरह फूलने और फैलने लगा, अपने विनोद की भयंकर परिणति की आशंका पर सहमकर वह पाख की ओर सरकी. झुके खपरैल से एक खपड़ा गिरा, पक्क!

"कौन है रे सारे. . . ? खड़ा रह तेरी बहिनी की. . . !" जैसे पीपल पर बैठे किसी गीध ने पंख फड़फड़ाये हों, मेरे फन सिकुड़ गये और मैं गली में रेंग गया.

"सुनो." दरवाजे पर सुमन की मां ने टोका. वे गांठ से दाने पछोर रही थीं. जौ को चंगेरी में डालते हुए बोलीं, "तुम इस पीपल को खरीद सकते हो? हमें बेचना है, सिर्फ डेढ़-हजार. . . एक या दो किस्त में. . . जैसा चाहो, मगर हजार हमें तुरंत देना पड़ेगा."

मैंने आश्वस्ति की सांस ली कि चलो, उन्होंने देखा नहीं, फिर संजीदा होकर लाभ-नुकसान का जायजा लेने लगा. इसी पीपल पर रमेशर ने भी दावा किया है. फिर पीपल की लकड़ी पजावे को छोड़कर बाकी किसी काम में आने से तो रही. क्या होगा पैसे फंसाकर? बोला, "काकी, इतने पैसे कहां है?"

"बहिन-बिटिया को फंसाने की खातिर तो पैसे है. मुदा हमें बचाने के लिए नहीं!" व्यंग्य से हंसकर वे फिर से उदास भाव से फटकने लगीं जौ को. जैसे मेरा अस्तित्व उनके लिए था ही नहीं. मैं सन्न रह गया.

गली से दोबारा जाना संभव नहीं था. सो, चक्कर काटकर घर का रास्ता पकड़ने की गरज से बखरी के पिछवाड़े की ओर चल पड़ा. बाबा की बखरी का पिछवाड़ा गिर चुका था. हर बरसात में उसकी मिट्टी बहकर खाते में समा जाती. मेरे बचपन के दिनों में यह खाता बड़ा भयंकर हुआ करता था. बांस डुबान! उसी खाते से मिट्टी काट-काटकर बनी थी बाबा की यह बखरी. अब फिर वापस जा रही थी खाते में. जब मैं छोटा था, पिछवाड़े का सिर्फ एक पगहा गिरा था. बड़े-बूढ़ों से हमने सुन रखा था कि हंडे भर-भरकर अशरफी, मोहरें और विक्टोरिया के रुपये के सिक्के गड़े हुए हैं बखरी में. दुपहरिया को हम बच्चे बाग की रखवाली करने के बहाने खुरपी लेकर धीरे-धीरे खोदते. सिक्के तो एक न मिले, अलबत्ता एक दिन एक बिल से बिच्छुओं की जो कतार निकली कि हम भागते-भागते भागे. मां से हमने जब यह वाकया कह सुनाया तो उन्होंने भी हमारा समर्थन किया, "जरूर गड़े होंगे रुपये. जहां खजाना गड़ा होता है, वहीं सांप-बिच्छू का पहरा होता है." हमने बड़े होने तक खजाने की खोज को मुल्तवी रखा. यह प्रकरण याद करते ही मैं सोचने लगा, कहां गये वे हंडे भर रुपये. क्या रमेशर ने खनवा लिया. . . ? होता तो क्या सुमन की मां मेरी दादी की तरह गांठ के गुबार से दाने निकालती?

मैंने देखा, खाता अब भी उतना ही भयंकर प्रतीत हो रहा था. हालांकि अंदर ही अंदर पट चुका था. काई लगा पानी पत्तियों के सड़ने से गंधा रहा था. इस खाते के दक्षिणी छोर पर अब भी खड़ा था वह विकराल पीपल और उत्तरी छोर पर किनारे-किनारे शुरू होती थी... बंसवारियां, बकड़न, सिहोर, झालमकोय, अड़ूस की झाड़ और आम के टेढ़े-मेढ़े पुराने पेड़ तथा चिलबिल. इन पेड़ों और झाड़ियों से खाते पर दिन के समय भी तिलिस्मी अंधेरा छाया रहता. पत्ते झर-झर खाते में गिरते. बेशुमार कीड़े भरे रहते. इन किलबिलाते कीड़ों के लोभ में बगुले पनडुब्बक और मोरों के दल खाते की परिक्रमा में जुटे रहते. आम के मौसम में खाते के ऊपर झुकी डालों से आम पक-पक कर टपकते, डब्ब-डब्ब. निबटान के लिए बाहर जानेवाली औरतें बाबा की नजर बचाकर मुंह अंधेरे कछन्ना काछकर घुटने भर पानी में आम टटोलतीं.

घर आया तो मैंने देखा, बाबा के दोनों नाती बड़कऊ और छोटकऊ मेरे बेटे के साथ गेंद खेल रहे थे. मुझे देखा और फुर्र!

दो वर्ष पूर्व ही बाबा के दोनों लड़के उमाकांत और रमाकांत क्रम-क्रम से मरे. हमें यह खबर शहर में ही मिली. उमाकांत, रमेशर के ट्रक पर काम करते थे, वहीं उन्हें टी.बी हुई थी. अघोट खाना, हाड़-तोड़ मेहनत और दवा-दारू आंजन भर को नहीं. अमेठी से सुल्तानपुर तक जहां-जहां गये, खून की उल्टी करते गये. उनके मरते ही पवस्त में सुगबुगाहट हुई, 'यह तो सरासर ब्रह्म हत्या है!' रमेशर पर यह दोष लगते ही बाबा के छोटे बेटे रमाकांत ने भी उनके ट्रैक्टर पर काम करना बंद कर दिया. बाग और खेत तो पहले ही हाथ से निकल चुके थे, घर की हालत और भी खस्ता हो गयी. इसी बीच पूर्णिमा के दिन रमेशर ने सत्यनारायण की कथा सुनी और पवस्त भर को भोज पर आमंत्रित किया. उस बृहद भोज में गांव के सिर्फ एक आदमी ने खाना खाया, वे थे रमाकांत. सिर्फ सौ रुपयों के लोभ में उन्होंने रमेशर को पक्का कर दिया. रमेशर का दोष तो उतर गया, मगर अब वह आ लगा रमाकांत पर. घर के अंदर से बाहर तक, जहां जाते उन्हें धिक्कार मिलती. पागल ही आंव-बांव बकने लगे रमाकांत और एक दिन खाते में डूब मरे.

इस मर्मांतक खबर पर हमें भी अफसोस हुआ, मगर जल्द ही प्रतिक्रिया मरने लगी. काका तब तक रिटायर हो चुके थे. हमने उनसे कहा, "देखते क्या हैं? बांधिए बोरिया-बिस्तर, इस सदमे के बाद बाबा के बच पाने की गुंजाइश कम ही बचती है."

काका, जो स्वयं भी रमा और उमा की मौत से बेहद दुखी थे, महातिम बाबा का प्रसंग आते ही यकायक तीते हो गये, "तब तुम महातिम को अभी तक पहचान नहीं पाये. उस ससुर को सिर्फ अपनी शेखी प्यारी है, बाकी सब कुछ बिला जाये, उसे कोई गम नहीं. पुरानी पीढ़ी साफ हो गयी कब की, बीच की पीढ़ी में सिर्फ मैं और रमेशर बचे है, वह भी कल तक जबकि नयी पीढ़ी में जमराज का हाथ लग चुका है. वह ठीक कहता है, सबको मारकर ही मरूंगा."

सचमुच, बाबा मरे नहीं, यह और बात है कि अब वे झिलंगी खाट पर ही टट्टी-पेशाब करने लगे थे. आवाज तक अस्पष्ट हो गयी थी. पिछली बार जब जेठ की ढलती शाम को अपने बस-स्टैंड पर उतरा तो दिमाग में बाबा का ही खयाल था. अचानक जाने कहां से 'भैया-भैया' कहते हुए बाबा के दोनों नाती बड़कऊ और छोटकऊ मेरे पास दौड़ पड़े. बिना तेल-कंघे के रूखे-रूखे बाल, चीकट हाफ पैंट और गंजी. एक ने मेरा होल्डाल उठा लिया, दूसरे ने ट्रंक. मैंने उन्हें रोककर दुकान से गर्म पकौड़े और चाय मंगवायी. खा-पीकर सिगरेट निकाली तो देखा, कनखियों से दोनों सिगरेट को देख रहे थे. एक-एक उन्हें थमायी तो झेंपते हुए दोनों ने सिगरेट ली, मगर मुट्ठियां भींचकर जिस तृप्त ढंग से वे सुट्टे मारकर नाक और मुंह से धुएं उगल रहे थे, उसे देखकर अंदर तक भीग गया. बाबा मर गये या जिंदा है, न हमने पूछा, न उन्होंने बताया.

अलस्सुबह मेरी नींद भयंकर गालियों से टूटी. सुमन की मां पूरब की ओर मुंह करके हवा में गालियां दिये जा रही थी, "हम किसी का न लेते है, न देते है, अपनी राह आते है, अपनी राह जाते है. फिर कोई पूतरखई, भतारखई, हमें क्या बोली बोलेगी. जिस माई-माथा को बोलना हो, सामने आवे. . . सबको देख लिया है, सबको. . . कौन कितनी सीता-सावित्तरी है, मुझसे मुंह न खुलवाओ!"

दतुअन कूंचते हुए दुबे आये. बोले, "सुना. . . ?" फिर बताने लगे, "हर तरफ से तबाह थी सुमन की मां, आखिर हारकर गांव में ही मजूरी करने गयी, मगर किसी ने कोई काम नहीं दिया. . . 'बामन से काम करवा कर नरक में जाना है?' . . . हमने कभी-कभार थोड़ी-बहुत मदद की, मगर छह-छह प्राणी का खर्च कैसे चलता? परसों के रात अंधेरे में रमेशर के पास गयी. सुना, रमेशर ने कहा, 'भौजी, अब इस देह को पीपल के गीधों के लिए छोड़ दो. भेजना है तो सुमन को भेजो.' इसके बाद जाने क्या-क्या अपशब्द सुमन की मां ने कहे और जाने कैसे यह बात फूटी, जिसे देखो, वही हमदर्दी जताने के बहाने टोह लेने उनके पास जा पहुंचता. आड़े-उलटे फब्तियां कसी जाने लगीं. अरे भैया, अब तो महातिम बाबा की बखरी का खुला दरवाजा है, जो चाहे आवै—जावै.

सुमन की मां अब भी बोले जा रही थी. अचानक लगा, पीपलवाली गली से उन्हें किसी ने अस्पष्ट आवाज में इशारा किया है. उपेक्षापूर्वक झनझना उठी, "जो लिये हो, वही रखो. तुम्हें तो सिर्फ चढ़ावा चाहिए. अब पाप का अनाज पचाने में आंतें नहीं फूलतीं. . . ? यहां सब माई-मामा इस फिराक में है कि उसके पास काहे गयी. हमरे पास काहे नहीं आयी? आज सब बाबा का बदला हमसे लेने को घाते हुए है. तब तो कहा, बाबा बरम्ह है. बाबा की गाली आशीरवाद है. एक सीधे-सादे आदमी को ऐंठ-ऐंठ के जिंदा ही परेत बना डाला, हिजड़ा गांव!"

मैं भावुक हो आया. थैले में साबुन, तेल, धोती साड़ी लेकर चल पड़ा. वे मुझे आता देख बखरी के अंदर चली गयीं. प्रणाम करते हुए आंगन में जा खड़ा हुआ. सुमन रह-रहकर मुझे देख रही थी. छोटी काकी अपनी साड़ी सिल रही थीं. लड़कों का कहीं अता-पता न था. मुझे लगा, मेरी उपस्थिति अवांछित है. मैंने जेब से पचास रुपये निकाले और थैले की ओर देखते हुए पुकारा, "काकी!"

मेरे प्रणाम की तरह इस पहल का भी कोई जवाब न मिला.

"काकी, ये सामान रख लो."

"जिसके लिए ले आये हो, उसे ही जाकर दे आओ." बात इतनी रुखाई से कही गयी थी कि मैं सन्न रह गया. सोचा, जी कड़ा कर महातिम बाबा को ही दे आऊं. मैं जैसे आया था, उससे ज्यादा तिरस्कार के बीच से लौट आया. मैंने देखा, पीछे का पूरा खंड समा चुका था खाते में. काफी पेड़ कटे थे, बाग और झाड़ियां विरल हो चली थीं. खाते पर छाया रहनेवाला तिलिस्मी अंधेरा तार-तार हो चला था.

गली-मुहाना पार करते-करते मेरे कदम सूअरों की आक्रामकता पर अचानक ही ठिठक गये. मेरे देखते-देखते ही सूअर खाते में पहुंच गये. खाते की परिक्रमा करते उन्हें देर न लगी और तब वे पीपल की ओर बढ़े आ रहे थे. खाते के इस पार से महातिम बाबा और उस पार से शकुंतिया एक दूसरे को गरिया रहे थे. कभी इसी शकुंतिया की मां ढेलों की चोट सहकर भी चूं नहीं कर पायी थी और आज उसी की जवान बेटी इतने चांड़े-चांड़े गलिया रही थी कि उसकी तुलना में महातम बाबा की अस्फुट बर्राहट निहायत पस्त और धीमी थी. अगर उनके हाथ हिलाने की बेचैन हरकत न होती तो पता भी न चलता कि वे गालियां दे रहे हैं. उनके निर्जीव हाथों की तुलना में शकुंतिया का डंडे हिला-हिलाकर गाली देना, कहीं ज्यादा स्पष्ट और आक्रामक था.

सूअर खाट की ओर बढ़े चले आ रहे थे. शायद बाबा ने पाखाना कर दिया था. घायल गीध की तरह बाबा की बेचैनी बढ़ती जा रही थी. सूअर कथरी तक पहुंच गये. आगे का दृश्य मुझसे देखा नहीं गया.

गांव से आने लगा था तो बाबूराम दुबे से एक सुझाव मांगा, "क्या बड़कऊ-छोटकऊ को लिवाता लाऊं?"

दुबे, जमीन पर लकीरें खींचते हुए बोले, "यहां तुम लोगों को हर मर्ज की बस एक ही दवा सूझती है. . . भाग जाना. अब यहां ऐसी हालत है कि रमेशर के किसी गलत काम की मुखालिफत के लिए आदमी ढूंढे नहीं मिलते. इस मेड़नमा गांव के राम ही मालिक है. अब. बाबा में एक कुटिल पुरोहित और एक मक्कार सामंत भरा था, जबकि रमेशर में उस पुरोहित और सामंत के अलावा एक काइयां मुनीम और एक मक्कार बनिया भी है. तुम बच्चे से जवान, जवान से बूढ़े होकर मर जाओगे, लेकिन यह पिशाच यूं नहीं मरनेवाला. पहले बाबा मां की गाली देते थे, अब बहन की, कोई आश्चर्य नहीं कल को बेटी तक की खबर लें. बड़कऊ, छोटकऊ को सही अर्थ में जिलाने के लिए पहले इस पिशाच का उच्छेद करना होगा." दुबे की गूढ़ बातें उस समय नहीं समझ में आयी थीं, लेकिन इस बार. . .

इस बार आया हूं तो हाथ में सूटकेस लिये हुए घर जाने की बजाय सीधे बाबा की बखरी पर जा पहुंचा हूं. सांकल लगी हुई है, मगर न किसी आदमी की आहट है, न किसी पशु की. बाबा मर चुके है क्या, मगर औरतें और छोटकऊ, बड़कऊ. . . ? मैं साहस कर सांकल खोलता हूं. जीर्ण-शीर्ण दीमक लगे कपाटों को अगर मैंने थाम न लिया होता तो अरराकर गिरते. कपाटों के खुलते ही अंदर आईने की तरह आकाश दिखता है, जिसमें बिंब की तरह ढही-अधढही दीवारें, पीपल का पेड़, पेड़ के गीध, विरल बाग के रूक्ष पेड़ों की कलगियां, इक्की-दुक्की चक्कर काटती चीलें नजर आती हैं, जैसे यह सारा कुछ गुजरे जमाने की चीजें हों. थोड़ी देर तक मैं स्तब्ध रह जाता हूं, फिर एक आधे गिरे पाख पर पांव रखकर खाते और उजाड़ बाग से टकराती नजर ढूंढ निकालती है पीपल के नीचे बिछी झिलंगी खाट को. खाट तो है, मगर खाट पर कोई नजर नहीं आता. बाबा का अस्तित्व परखने के लिए एक ढेला चुनकर मैं पेड़ पर फेंकता हूं. पत्तों की खड़खड़ाहट और पानी में डब्ब-से डूबने की आवाज पर अचानक खाट से हवा में बदबू की तरह उछल पड़ती है अस्फुट गाली, "कौन है रे सारे. . . खड़ा रह तेरी बटी की. . . " □

● मुख्य प्रयोगशाला, इस्को, कुल्टी-713343 (पश्चिम बंगाल)

अतिथि देवो भव

अब्दुल बिस्मिल्लाह

जिस तरह बनारस का विश्वविद्यालय हिंदू है और अलीगढ़ का विश्वविद्यालय मुसलमान, उसी तरह सलमान साहब के कस्बे के होटल भी हिंदू और मुसलमान, थे. लेकिन उसी कस्बे में सलमान साहब संस्कृत पढ़ रहे थे और गिरधारी लाल गुप्ता केवल उर्दू ही पढ़े थे... प्रस्तुत हैं हिंदी के चर्चित कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह की ताजा कहानी, जो जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ाते हैं.

गर्मी बहुत तेज थी. तीन-चार दिनों से बराबर लू चल रही थी और जगह-जगह मौतें हो रही थीं. शहर की सड़कें चूल्हे पर चढ़े तवे की तरह तप रही थीं. बड़े लोगों ने दरवाजों पर खस की टट्टियां लगवा ली थीं और उनके नौकर उन्हें पानी से तर कर रहे थे. दूकानों पर पर्दे गिरे हुए थे. पटरी पर बैठनेवाले नाई, खोमचेवाले और लाटरी के टिकट बेचनेवाले ओवर ब्रिज के नीचे पहुंच गये थे और शाम होने का इंतजार कर रहे थे. रिक्शों में लोग इस तरह दुबककर बैठे थे मानो शरीर का अगर कोई अंग बाहर निकलेगा तो वह जल जायेगा. प्रायः सभी के रूमाल पसीना पोंछते-पोंछते काले हो गये थे. देहात के लोग तो अपने चेहरों को मोटे तौलिये या गमछे से इस तरह लपेटे हुए थे कि दूर से वे डाकू जैसे दिखाई पड़ते थे. पैदल चलनेवाले लोगों ने अपने सिर पर छाता नहीं तो अपना बैग ही रख लिया था. किसी किसी ने तो रूमाल को ही सिर पर बांध लिया था. ठेलों पर बिकनेवाला पानी पांच पैसे गिलास से बढ़कर दस पैसे के भाव हो गया था.

इस तरह गर्मी ने उस शहर की समाज व्यवस्था और अर्थ व्यवस्था को पूरी तरह अपनी गिरफ्त में ले लिया था. लोग आजाद होते हुए भी गुलाम थे और मजे की बात यह कि वे गर्मी का कुछ बिगाड़ नहीं सकते थे. अतः लू से बचने के लिए उन्होंने अपनी जेबों में प्याज की छोटी-छोटी पोटियां रख ली थीं और शुक्र मना रहे थे.

एक छोटा-सा प्याज सलमान साहब की जेब में भी पड़ा था. इसे उनकी बीवी ने चुपके से रख दिया था. सलमान साहब को हालांकि इस बात का पूरा पता था, पर वे यही मानकर चल रहे थे कि प्याज के

बारे में उन्हें कुछ नहीं मालूम है. और अपने इस विश्वास पर वे डटे हुए थे कि लू का प्याज से कोई संबंध नहीं होता.

सलमान साहब अपना सूटकेस उठाये छन्-छन् करती सड़क पर बढ़े जा रहे थे. हालांकि उनकी इच्छा हो रही थी कि अपने सिर पर औरों की तरह वे भी रूमाल बांध लें या तौलिया निकालकर चेहरे के इर्द-गिर्द लपेट लें, पर असुविधा के खयाल से वे ऐसा नहीं कर पा रहे थे. इसके अलावा उन्हें इस बात की उतावली भी थी कि जल्दी से वे मिश्रीलाल गुप्ता के निवास पर पहुंच जायें. रिक्शा उन्हें मिला नहीं था; अतः अपने मन को वे यह भी समझाते जा रहे थे कि स्टेशन से उसका कमरा ज्यादा दूर नहीं है. यह बात मिश्रीलाल ने ही उन्हें बतायी थी.

सलमान साहब मिश्रीलाल गुप्ता से मिलने पहली बार उस शहर में पहुंचे थे. मकान नंबर तो उन्हें याद था, पर सिचुएशन का पता नहीं था. लेकिन उन्हें पूरा विश्वास था कि वे मिश्रीलाल गुप्ता को अवश्य ही ढूंढ़ लेंगे.

मिश्रीलाल गुप्ता सलमान साहब के पड़ोस का एक ऐसा लड़का था जो कस्बे भर में अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण मशहूर था. गुप्ता खानदान का वह पहला युवक था जिसने मांस खाना आरंभ कर दिया था और मुसलमान होटलों में चाय पिया करता था. जी हां, जिस तरह बनारस का विश्वविद्यालय हिंदू है और अलीगढ़ का विश्वविद्यालय मुसलमान, ठीक उसी तरह उनके कस्बे के होटल भी हिंदू और मुसलमान थे. यह बात अलग है कि हिंदू होटलों में मुसलमानों के लिए या मुसलमान होटलों में हिंदुओं के लिए प्रवेश की कोई मनाही नहीं थी. फिर भी जो धार्मिक लोग थे, वे इसे बुरा समझा करते थे. सलमान साहब के पड़ोसी जकी साहब हमेशा मुसलमान हलवाई के यहां से ही मिठाई मंगवाते थे, क्योंकि जो शिवचरण हलवाई था वह इस्तिंजे से नहीं रहता था.

उस कस्बे में उन दिनों एक ही स्कूल था और वहां सबको अनिवार्य रूप से संस्कृत पढ़नी पड़ती थी. अतः सलमान साहब ने भी 'रामः, रामौ, रामाः' पढ़ा. और नतीजा यह निकला कि वे उर्दू नहीं पढ़ सके. जैसे मिश्रीलाल के बाबा गिरधारीलाल गुप्ता अपने जमाने में सिर्फ उर्दू ही पढ़ सके थे, संस्कृत सीखने का मौका उन्हें नहीं मिला था. एक तो वैश्य, दूसरे मदरसे में उसका प्रबंध नहीं था. सो, इसी किस्म की मजबूरियों ने सलमान साहब से संस्कृत पढ़वायी और जब वे उच्च शिक्षा लेने के लिए शहर पहुंचे तो वहां भी उन्होंने संस्कृत ही पढ़ी. उन्हें विश्वास था कि एम.ए. करने के बाद वे कहीं न कहीं संस्कृत के लेक्चरर हो जायेंगे, पर ऐसा नहीं हुआ. और अब वे अपने ही कस्बे के नये-नये खुले इस्लामिया मिडिल स्कूल में हिस्ट्री पढ़ाने लगे थे.

मिश्रीलाल जिन दिनों इंटर कर रहा था, सलमान साहब ने उसे सुबह-शाम संस्कृत पढ़ायी थी. अतः वह उन्हें अपना गुरु मानता था और उनके चरण छूता था. अब वह बी.ए. कर चुका था और किसी कंपटीशन की तैयारी कर रहा था. उसकी प्रबल इच्छा थी कि सलमान साहब जब उसके शहर में आयें तो उसके निवास पर अवश्य पधारें. मिश्रीलाल की इस इच्छा को अनपेक्षित रूप से पूर्ण करने के लिए ही वे बगैर सूचना दिये उस शहर में पहुंच गये थे और अचानक उसके दरवाजे पर दस्तक देकर उसे चौंका देना चाहते थे.

सलमान साहब ने मुहल्ले का नाम याद किया—गोपालगंज. हां, यही नाम है. मकान नंबर बी-पांच सौ बासठ. राधारमण मिश्र का मकान. स्टेशन से यही कोई आधा मील पर स्थित.

"क्यों भाई साहब, गोपालगंज किधर पड़ेगा?"

उन्होंने एक दूकानदार से पूछा तो पान की पीक थूकने का कष्ट न करते हुए ही उसने गलगलाकर यह बताया कि वे महाशय थोड़ा आगे निकल आये हैं. पीछे मुड़कर बिजली के उस वाले खंभे से सटी हुई गली में घुस जायें.

सलमान साहब उसकी दूकान के शेड से जब बाहर निकले तो लू का एक थपेड़ा चट् से उनके गाल पर लगा और उन्होंने अपनी एक हथेली कनपटी पर लगा ली. ठीक उसी वक्त उन्हें अपनी जेब में पड़े हुए प्याज का भी खयाल आया और क्षण भर को वे आश्वस्त हुए.

हां, यही गली तो है. उन्होंने बिजली के खंभे को ध्यान से देखा और गली में घुस गये.

दाहिनी ओर ए ब्लाक था. सलमान साहब ने सोचा कि बायीं ओर जरूर बी ब्लाक होगा, पर उधर एच ब्लाक था. वे और आगे बढ़े. शायद ए वाली साइड में ही आगे चलकर बी पड़े. लेकिन नहीं, जहां ए खत्म हुआ वहां से एम शुरू हो रहा था. बायीं ओर सी था. वे चकरा गये.

"कहां जाना है?"

एक सज्जन सड़क पर चारपाई निकालकर उसे पटक रहे थे और नीचे गिरे हुए खटमलों को मार रहे थे. उन्होंने उनकी बेचैनी को शायद भांप लिया था. सलमान साहब ने खुद अपने जूते से खटमल के एक बच्चे को मारा और पूछा, "साहब, यह बी-पांच सौ बासठ किधर पड़ेगा?"

"ओह, मिसिरजी का मकान! वह पुराने गोपालगंज में है. आप इधर से चले जाइये और आगे जाकर मंदिर के पास से दाहिने मुड़ जाइयेगा. वहां किसी से पूछ लीजियेगा."

सलमान साहब ने उन्हें धन्यवाद दिया और चल पड़े. मंदिर के पास पहुंचकर जब वे दाहिनी ओर मुड़े तो उन्होंने देखा कि पीछे चार-पांच भैंसें बंधी हुई हैं और एक लड़की अपने बरामदे में खड़ी होकर दूर जा रहे चूड़ीवाले को बुला रही है.

"पुराना गोपालगंज क्या यही है?"

उन्होंने उस लड़की से ही जानकारी लेनी चाही, पर उसने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया. उसका सारा ध्यान चूड़ीवाले के ठेले पर लगा हुआ था. सलमान साहब आगे बढ़ गये.

थोड़ा और आगे जाने पर पुराने ढंग के ऊंचे-ऊंचे मकान उन्हें दिखाई पड़े जिनकी छाया में उस इलाके की संकरी सड़कें अपेक्षाकृत काफी ठंडी थीं और नंग-धड़ंग बच्चे उन पर उछल रहे थे. सलमान साहब का मन हुआ कि यहां वे क्षणभर के लिए खड़े हो जायें. पर अपने विचार का तुरंत ही उन्होंने परित्याग किया और चलते रहे.

सामने से एक लड़का दौड़ा आ रहा था. उसके पीछे-पीछे एक मोटा-सा चूहा घिसटा आ रहा था. लड़के ने चूहे की पूंछ में सुतली बांध दी थी और उसका एक छोर थामे हुए था. सलमान साहब को देखकर—जैसी कि उन्हें उम्मीद थी—वह बिल्कुल नहीं ठिठका और उनकी बगल से भागने के चक्कर में उनसे टकरा गया.

"ये बी-पांच सौ बासठ किधर है जी? तुम्हें पता है, मिश्रजी का मकान?"

लड़के ने उनकी ओर उड़ती-सी नजर डाली और एक मकान की ओर संकेत करता हुआ भाग गया. उसके पीछे-पीछे चूहा भी घिसटता हुआ चला गया.

सलमान साहब ने एक ठंडी सांस ली और उस विशालकाय इमारत के सामने जाकर खड़े हो गये. वहां बाहर ही दो औरतें चारपाई पर बैठी थीं और पंजाब-समस्या को अपने ढंग से हल करने में लगी हुई थीं.

"अरी बिट्टन की अम्मां, वो तो भाग मनाओ कि हम हिंदुस्तान में हैं, पंजाब में होतीं तो न जाने क्या गत हुई होती..."

"राधाचरण मिश्रजी का मकान यही है?"

स्त्रियां चारपायी पर बैठी रहीं, जबकि सलमान साहब ने सोचा था कि वह उठ खड़ी होंगी—जैसा कि उनके कस्बे में होता है—लेकिन यह तो शहर है...

"मिसिरजी यहां नहीं रहते. वे जवाहर नगर में रहते हैं. यहां सिरिफ उनके किरायेदार रहते हैं." एक स्त्री ने उन्हें जानकारी दी और खामोश हो गयी.

अब्दुल बिस्मिल्लाह

"क्या काम है?"

दूसरी ने पूछा और अपना सिर खुजलाने लगी.

"उनके मकान में एक लड़का रहता है मिश्रीलाल गुप्ता, उसी से मिलना था."

"ऊपर चले जाइए, सीढ़ी चढ़कर दूसरा वाला कमरा उन्हीं का है." उस सिर खुजलानेवाली औरत ने बताया और खड़ी हो गयी.

सलमान साहब भीतर घुस गये.

वहां अंधेरा था और सीढ़ी नजर नहीं आ रही थी. थोड़ी देर तक खड़े रहने के बाद उन्हें कोने में एक नल दिखाई पड़ा, फिर सीढ़ी भी दिखने लगी और वे संभल-संभलकर ऊपर चढ़ने लगे.

इस बीच उन्होंने अनुमान लगाया कि मिश्रीलाल सो रहा होगा और दरवाजा खटखटाकर उसे जगाना पड़ेगा. वह हड़बड़ाकर उठेगा और सिटकिनी खोलकर आंखें मलते हुए बाहर देखेगा. फिर सामने उन्हें पाकर चरणों पर झुक जायेगा.

"कौन?"

सीढ़ियां खत्म होते ही उस पार से किसी स्त्री का प्रश्न सुनाई पड़ा और वे ठिठक गये.

"मिश्रीलालजी हैं क्या?"

"थोड़ा ठहरिए."

उस स्त्री ने जरा सख्ती के साथ कहा और सलमान साहब को लगा कि स्त्री किसी महत्वपूर्ण काम में लगी हुई है. वे बिना किवाड़ोंवाले उस द्वार के इस पार खड़े हो गये और कुछ सोचने लगे. तभी उन्होंने देखा कि एक अधेड़ वय की गोरी-सी औरत, मात्र पेटीकोट और ब्रेसियर पहने बरामदे से भागकर सामने वाली कोठरी में घुस गयी और जल्दी से साड़ी लपेटकर, ब्लाउज का हुक लगाती हुई बाहर निकल आयी.

"आइए."

उसने सलमान साहब को पुकारा तो वे इस प्रकार भीतर घुसे जैसे उन्होंने उस स्त्री को अभी थोड़ी देर पहले भीतर घुसते हुए देखा ही नहीं है. स्त्री ने भी शायद यही सोचा और इतमीनान से खड़ी रही.

सलमान साहब ने देखा कि बरामदे में बने परनाले के मुहाने पर एक उतारी हुई गीली साड़ी पड़ी है और जय साबुन की गंध पूरे माहौल में भरी हुई है.

"मिश्रीलालजी बगल वाले कमरे में रहते हैं, पर वे हैं नहीं. सुबह से ही कहीं गये हुए हैं. आप कहां से आ रहे हैं? बैठिए."

स्त्री ने अत्यंत विनम्रता के साथ यह सब कहा और एक बंसखट बिछाकर फिर भीतर घुस गयी. थोड़ी देर बाद वह एक तश्तरी में गुड़ और गिलास में पानी लिये हुए बाहर आयी और बंसखट पर तश्तरी रखकर खड़ी हो गयी.

"पानी पीजिए, आज गर्मी बहुत है."

इतना कहकर उसने अपनी उतारी हुई साड़ी की ओर देखा और न जाने क्या सोचकर पानी नीचे रखकर फिर भीतर घुस गयी. अबकी वह ताड़ का एक पंखा लेकर लौटी और उसे भी बंसखट पर रख दिया.

सलमान साहब ने गुड़ खाया, पानी पिया और पंखा लेकर उसे हल्के-हल्के डुलाने लगे.

"मिश्रीलाल कहीं बाहर तो नहीं चला गया है?"

"बाहर तो नहीं गये हैं, शहर में ही होंगे कहीं. पिक्चर-विक्चर गये होंगे, या किसी दोस्त के यहां चले गये होंगे. रोज तो कमरे में ही रहते थे, आज ही निकले हैं बाहर."

सलमान साहब ने घड़ी देखी, तीन बज रहे थे. उन्होंने थकान का अनुभव किया और बंसखट पर थोड़ा पसर गये.

स्त्री फिर भीतर से तकिया ले आयी.

"आप थोड़ा आराम कर लें, गुप्ताजी शाम तक तो आ ही जायेंगे."

स्त्री ने उनके सिरहाने तकिया रखा और अपनी गीली साड़ी बाल्टी में रखकर नीचे उतर गयी.

सलमान साहब जब लेटे तो जेब में पड़ा प्याज उन्हें गड़ने लगा और उन्होंने उसे बाहर निकालकर चारपाई के नीचे गिरा दिया. थोड़ी देर बाद उन्हें नींद आ गयी.

नींद में उन्होंने सपना देखा कि उनके स्कूल में मास्टरों के बीच झगड़ा हो गया है और पी.टी. टीचर सत्यानारायण यादव को हेड मास्टर साहब बुरी तरह डांट रहे हैं. सलमान साहब उनका पक्ष लेकर आगे बढ़ते हैं तो सारे मास्टर उन पर टूट पड़ते हैं.

उनकी नींद टूट जाती है.

वे उठकर बैठ जाते हैं.

लगता है रात हो गयी है. भीतर एक मटमैला-सा बल्ब जल रहा है, जिसकी रोशनी बरामदे में भी आ रही है. बरामदे में कोई बल्ब नहीं है. भीतर से आने वाली रोशनी के उस चौकोर से टुकड़े में ही एक स्टोव जल रहा है और स्त्री सब्जी छौंक रही है. जहां दोपहर में जय साबुन की गंध भरी हुई थी वहीं अब जीरे की महक उड़ रही है.

"मिश्रीलाल नहीं आया अभी तक!"

"अरे, अब हम क्या बतायें कि आज वे कहां चले गये हैं? रोजाना तो कमरे में ही घुसे रहते थे."

उस स्त्री ने चिंतित मन से कहा और स्टील के एक गिलास में पहले से तैयार की गयी चाय लेकर उनके सामने खड़ी हो गयी.

"अरे, आपने क्यों कष्ट किया?"

"इसमें कष्ट की क्या बात है?" चाय तो बनती ही है शाम को."

सलमान साहब ने गिलास थाम लिया. स्त्री स्टोव की ओर मुड़ गयी.

तभी एक सद्यःस्नात सज्जन कमर में गमछा लपेटे, जनेऊ मलते हुए सीढ़ियां चढ़कर ऊपर आये और कमरे में घुसकर हनुमान-चालीसा का पाठ करने लगे. जीरे की महक के साथ-साथ अब अगरबत्ती की महक भी वातावरण में तिरने लगी.

सलमान साहब ने भीतर झांककर देखा तो पाया कि उस कमरे में पूरी गृहस्थी अत्यंत सलीके के साथ सजी हुई थी और दीवारों पर राम, कृष्ण, हनुमान, शंकर, पार्वती, लक्ष्मी और गणेश आदि विभिन्न देवी-देवताओं के फोटो टंगे हुए थे. वहीं एक ओर लकड़ी की एक तख्ती लगी थी जिस पर लिखा था—राममनोहर पांडेय, असिस्टेंट टेलीफोन ऑपरेटर. वे सज्जन अपने दाहिने हाथ में अगरबत्ती लिये, बायें हाथ से दाहिने हाथ की टिहुनी थामे सभी तस्वीरों को सुगंधित धूप से सुवासित कर रहे थे और अत्यंत श्रद्धा के साथ रामचरित मानस की चौपाइयां गुनगुना रहे थे. बीच-बीच में वे गीता के कुछ श्लोक भी सही-गलत उच्चारण के साथ बोल जाते थे. छत पर एक गंदा-सा पंखा अत्यंत धीमी चाल से डोल रहा था.

स्त्री ने सब्जी पका ली थी और अब वह रोटियां बना रही थी.

सलमान साहब की इच्छा हुई कि अब वे यहां से चल दें और किसी होटल में ठहर जायें, सुबह आकर मिश्रीलाल से मिल लेंगे, क्योंकि रात काफी होती जा रही है और उसका अभी तक पता नहीं है.

वे खड़े हो गये.

"मैं अब चलता हूं, कल सवेरे आकर मिल लूंगा."

उन्होंने अपना बैग उठा लिया.

"कहां जायेंगे?"

स्त्री ने उनसे सीधा सवाल किया और पीछे मुड़कर उनकी ओर ताकने लगी.

"किसी होटल में रुकूंगा."

"क्यों भाई साहब, होटल में क्यों रुकियेगा, क्या यहां जगह नहीं है? खाना तैयार हो गया है, खा लीजिए और छत पर चलकर लेटिये. रात में गुप्ताजी आ ही जायेंगे. और अगर न भी आये तो सुबह चले जाइयेगा. इस टाइम तो मैं आपको न जाने दूंगी. आइये, जूता-जूता उतारिये और हाथ-मुंह धोकर खाने बैठिये."

"नहीं भाभी जी, आप क्यों कष्ट उठाती हैं?"

उस स्त्री को अब भाभी कहने में कोई हर्ज नहीं लगा सलमान साहब को.

"कष्ट की क्या बात है? आइये, खाना खाइये."

सलमान साहब विवश हो गये. उन्होंने जूते उतारे और हाथ-मुंह धोकर खड़े हो गये.

अब तक पांडेयजी अपनी पूजा-आराधना से खाली हो गये थे और भीतर बिछी चौकी पर बैठकर कुछ कागज-पत्तर देख रहे थे. सलमान साहब को उनसे नमस्कार करने तक का मौका अभी नहीं मिला था. यह उन्हें बहुत खल रहा था. लेकिन अब इतनी देर बाद नमस्कार करने का कोई औचित्य भी नहीं था, इसलिए उन्होंने सीधे-सीधे बात करने की कोशिश की.

"भाई साहब, आप भी उठिये."

"नहीं, आप खाइये. मैं थोड़ी देर बाद भोजन करूंगा!"

उन्होंने तनिक शुष्क स्वर में सलमान साहब को उत्तर दिया और बगैर उनकी ओर देखे अपने कागज-पत्तर में उलझे रहे.

"आप बैठिए, दिन भर के भूखे-प्यासे होंगे. वे बाद में खा लेंगे. दफ्तर से आकर उन्होंने थोड़ा नाश्ता भी किया है. आप तो सो रहे थे."

स्त्री ने एक बार फिर उनसे आग्रह किया और पीढ़ा रखकर थाली लगा दी. लोटे में पानी और गिलास रख दिया.

सलमान साहब बैठ गये.

वे भीतर से बहुत आह्लादित थे. उनके कस्बे में ऐसा नहीं हो सकता कि बगैर जाति-धर्म की जानकारी किये कोई ब्राह्मणी किसी को अपने चौके में बैठाकर खाना खिलाये. लेकिन शहर में ऐसा हो सकता है. यद्यपि यह कोई बड़ा शहर नहीं है और यहां के लोग भी बहुत कुछ ग्रामीण संस्कारोंवाले हैं, पर है तो आखिर शहर. यहां के पढ़े-लिखे लोग प्रगतिशील विचारों के होते हैं. उनमें संकीर्णता नहीं होती. वे धर्मप्रवण होते हुए भी रूढ़ धारणाओं से मुक्त होते हैं...

सलमान साहब सोच रहे थे और खा रहे थे. उन्हें बैंगन की सब्जी बहुत अच्छी लग रही थी. ताजे आम का अचार यद्यपि पूरा गला नहीं था, पर स्वादिष्ट था. रोटियों पर घी भी चुपड़ा हुआ था. ऐसी रोटियां उनके घर में नहीं बनतीं. वहां तो उल्टे तवे पर बनी हुई विशालकाय और अधसिकी चपातियां किसी पुराने कपड़े में लिपटी रखी होती हैं...

स्त्री ने एक फूली हुई भाप उड़ाती रोटी उनकी थाली में और डाल दी थी.

"आप गुप्ताजी के गांव से आये हैं?"

सलमान साहब ने सिर उठाया, पांडेजी अब कागज-पत्तरों से खाली हो गये थे और आम काट रहे थे. उनकी आवाज में उसी तरह की शुष्कता विद्यमान थी.

"जी हां." सलमान साहब ने जवाब दिया और अचार उठाकर चाटने लगे.

पांडेजी ने संकेत से पत्नी को भीतर बुलाया और आम की तीन फांकियां थमा दीं. स्त्री ने उन्हें सलमान साहब की थाली में डाल दिया.

"आप उनके भाई हैं?" फिर वही शुष्क स्वर.

सलमान साहब को कोफ्त हुई.

"जी नहीं, मेरा वह शिष्य है."

"क्या आप अध्यापक हैं?"

"जी हां."

"कहां पढ़ाते हैं?"

"अपने ही कस्बे में."

"आप भी गुप्ता हैं?"

"जी नहीं."

"ब्राह्मण हैं?"

"नहीं, मैं मुसलमान हूं. मेरा नाम मुहम्मद सलमान है."

उन्होंने अपना पूरा परिचय दिया और रोटी के आखिरी टुकड़े में सब्जी लपेटने लगे.

पांडेजी ने अपनी स्त्री की ओर आंखें उठायीं तो पाया कि वह खुद उनकी ओर देख रही थी. ऐसा लगा कि दोनों ही एक दूसरे से कुछ कह रहे हैं पर ठीक-ठीक कह नहीं पा रहे हैं.

सलमान साहब अगली रोटी का इंतजार कर रहे थे.

लेकिन स्त्री स्टोव के पास से उठकर भीतर चली गयी थी और कुछ ढूंढ़ने लगी थी. सलमान साहब आम खाने लगे थे.

स्त्री जब बाहर निकली तो उसके हाथ में कांच का एक गिलास था और आंखों में भय.

उसने सलमान साहब की थाली के पास रखा स्टील का गिलास उठा लिया था और उसकी जगह कांच का गिलास रख दिया था.

सलमान साहब को याद आया कि अभी शाम को जिस गिलास में उन्होंने चाय पी थी, वह भी स्टील का था. जिस थाली में वे खाना खा रहे थे, वह भी स्टील की ही थी. अतः पल भर के लिए वे [illegible] फिर उन्होंने अपनी थाली उठायी और परनाले के पास [illegible] गये. वहां एक कटोरे में राख और उस पर बाध का एक [illegible] हुआ था. सलमान साहब ने मंजना उठाया और अपनी थाली [illegible]

स्त्री ने थोड़ी-सा पीछे मुड़कर उनकी ओर देखा, [illegible] तुरंत बाद ही वह अपने काम में व्यस्त हो गयी.

मिश्रीलाल अभी तक नहीं आया था. □

● हिंदी विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया यूनिवर्सिटी, नयी दिल्ली

दाढ़ी और ब्लेड

कविवर रवींद्रनाथ टैगोर कभी किसी को प्रशंसा-पत्र देने में सोचते नहीं थे, वरन् तत्काल दे देते थे. उनकी सदाशयता का फायदा अनेक व्यापारिक कंपनियां उठाती थीं. वे अपने सामान की श्रेष्ठता के लिए कविवर से प्रशंसा-पत्र ले जाते थे. यह देखकर उनके एक सहयोगी ने कविवर से कहा, "बेहिसाब प्रशंसा-पत्रों के देने से तो ऐसा लगता है कि कुछ दिनों में आप प्रत्येक वस्तु के लिए प्रशंसा-पत्र दे देंगे."

इस पर छूटते ही कविवर ने उत्तर दिया, "नहीं, एक चीज के लिए मैं प्रशंसा-पत्र कभी नहीं दूंगा."

सहयोगी ने आश्चर्य भरे लहजे से पूछा, "किस चीज के लिए?" कविवर ने बड़ी गंभीरता से उत्तर दिया, "रेजर-ब्लेड के लिए!" और मंद मुस्कान के साथ वे अपनी घनी दाढ़ी पर हाथ फेरने लगे. □

प्रस्तुति : मनोज कुमार

क्या सचमुच अब यह सपने की बातें ही होकर रह जायेंगी . . . कि कोई जगह ऐसी भी है, जहां सब एक दूसरे से प्रेम करते हैं, एक-दूसरे का सहारा बनते हैं . . . सब सुखी हैं . . . जहां कोई धर्म या जाति नहीं, कोई अमीर और कोई गरीब नहीं . . . ! टूटते हुए आदमी की मर्मांतक दास्तान प्रस्तुत करती विचारोत्तेजक कहानी—

"चाचा! विशन . . नहीं . . . साथी कहां है?" होटल में घुसते ही होटल-मालिक चाचा से मैंने प्रश्न किया.

"भाग गया हरामजादा, अरे, बाबूजी ये लोग कहीं टिकते हैं, हराम की मुंह लग जाती है नयी-नयी हांडी में मुंह मारने की आदत पड़ जाती है. गया स्साला अफीमची या मर-खप गया होगा कहीं. दंगे में जिंदा होगा तो आएगा कभी भटकता हुआ."

मेरे अंदर एक हूक-सी उठी मैं धम्म से एक कुर्सी पर बैठ गया, "वो कभी भी नहीं आयेगा. भागता रहेगा प्यासे हिरन की तरह उसे कहीं भी पानी नहीं मिलेगा या पहुंचा गया शायद वो अपने सपने के शहर में . . . अपने सपने के घर में."

चाचा की बड़बड़ाहट से परे मेरे अंदर विशन . . . नहीं . . . साथी कुलबुला रहा है, ठीक उस कोने वाली कुर्सी पर वो साकार हो रहा है. यहीं बैठा था उस दिन चाचा की नजर से दूर . . .

"लड़के, पानी रख नंबर चार पे. ए छोरे, दो चा पेशल बाजू वाली बैंच पे भाग के जा, एक हरामी दौड़ के कोने वाली मेज पर साब को मठरी चा, नमकहराम देख के चल."

चटाक . . चाचा का तमाचा गाल पर पड़ते ही वो हड़बड़ाकर उठा. आर्डर देने की गति पर एकदम ब्रेक लगा. दौड़कर गिलास में पानी भरा और तेजी से मेजों की ओर बढ़ा पर सारी मेजें खाली थीं. केवल मैं बैठा था और पानी से भरा जग मेरी मेज पर था. वो पानी का गिलास हाथ में लिए कुछ देर यूं ही खड़ा रहा. उस दिन पहली बार मैंने उसे गौर से देखा—बड़ी-बड़ी सुर्ख आंखें, तीखी खड़ी नाक, एकदम काले पपड़ाए होंठ लंबा-सा खूबसूरत चेहरा, छोटे-छोटे घुंघराले बाल, लगभग 18 साल का एकहरे बदन, दरमियानी कद, गंदमी से रंग का, अपेक्षाकृत साफ हाफपेंट और बनियान कुल मिलाकर उसमें एक आकर्षण था.

चटाक . . . चाचा ने एक और हाथ मारा गिलास का पानी फैल गया, "अब खायेगा स्साले भांग, पियेगा चिलम, हरामी की औलाद अब मैंने देख लिया तुझे उस खंजड़ी वाले फकीर के पास तो खैर नहीं, चल साब को चाय दे."

"बाबूजी चिलम पीता है स्साला भांग खाता है, अफीम भी चढ़ए. नशे में धुत्त होकर गुमसुम बैठ जाता है आर्डर देने लगता है जैसे खुद मालिक हो. दो चांटे में जमीन पे आ जाता है." चाचा मेरी ओर मुखातिब हो गया था.

यह पहला दिन था जब उसने मेरे अंदर प्रवेश किया, उसी दिन से मैं उसके प्रति जिज्ञासु हो गया था. क्या, आखिर क्या सोचता है ये नशे में? क्यों करता है नशा? तमाम प्रश्न उसकी शख्सियत के साथ मेरे अंदर उतर गये. पर यह प्रवेश एकतरफा था. उसने तो अरसे तक मुझे अपने अंदर नहीं घुसने दिया. छुट्टी के समय, मैं उसे होटल के बगल वाली पीर की मजार पर खंजड़ी वाले फकीर के पास बैठा देखता. फकीर खंजड़ी बजाकर दोहे गा रहा होता और वो तन्मयता से सुन रहा होता. जब कभी भी मैंने या किसी और ने भी उसके व्यक्तित्व को टटोलने की कोशिश की, उसने न समझ में आने वाले जुमलों में उत्तर दिए और मुस्कुराकर काम में लग गया. जुमले क्या, दर्शन होता–

'कोई हिंदू है न मुसलमान. कोई बामन-ठाकुर है न भंगी चमार. कोई जाति है न धर्म, न कोई हिंदू है न सिख, न देश न परदेश, दो ही मछली हैं एक छोटी एक बड़ी. बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है.'

'दूध और खून का रंग, मिला हुआ रंग देखा है साब? बहुत खूबसूरत बनता है, यही पीते हैं ये दरिंदे.'

'भगवान मर गया है साब. बहुत पहले मर गया है. मैंने मरते देखा है अपनी आंखों से. साब अब तो लोग उसकी लाश ढो रहे हैं. उसकी लाश को आड़ बना लिया है. दोनों ओर से गोलियां चल रही हैं ठांय . . . ठांय . . . ठांय छलनी हो गयी है उसकी लाश.'

'मन साला बड़ा हरामी होता है साब सपने देखता है सपने, पंखों पर सवार होकर उड़ता है दूर-दूर देश तक, सोने के ढेर पर बैठता है, चांदी के फूलों पर सोता है पर साब पलक झपकते ही अपनी औकात पर आ जाता है. कभी देखी है मन की उड़ान? मैं उड़ता हूं साब खूब उड़ता हूं.'

'सपने और नशे का बड़ा गहरा रिश्ता है साब, सपना सच हो जाये तो नशा उड़ जाये और नशा हो जाये तो सपना खड़ा हो जाये. सपना झूठा हो या सच्चा दबाये रखता है साब!'

गया चला गया किसी का बंगाली, किसी का बिहारी, किसी का पंजाबी मेरा साथी . . . नहीं विशन . . . उसके विषय में कभी कोई कुछ भी नहीं जान पाया. उसमें बहुत-सी ऐसी बातें थीं जिससे लोगों की उसमें जिज्ञासा थी. उसकी शुद्ध भाषा उच्चारण, व्यवहार, खाली समय में उसका अखबार पढ़ते रहना, उसकी मुस्कुराहट—कभी मस्ती में होता तो किसी से बंगला में दो-चार वाक्य बोल देता, 'की होलो दादा!' कभी ठेठ भोजपुरी बोल जाता, 'ए बबुआ तनि हिन्ने आवा हो!' कभी पंजाबी, 'की हाल ए बादशाहो' इसीलिए कुछ लोग उसे बंगाली कुछ बिहारी कुछ पंजाबी कहकर बुलाते. वो किसी भी संबोधन से मुस्कुराहट लिए हाजिर हो जाता, और यही मुस्कुराहट मुझे उसके बहुत करीब ले गयी. एक दिन जैसे ही चाय उसने मेरी मेज पर रखी, 'कहां के रहने वाले हो?' मैंने प्रश्न दागा.

चल खुसरो घर आपने

सुरेंद्र सुकुमार

'साब यहीं का. अपुन जहां होता वहीं का रहने वाला होता.' मुझे उसकी बात रहस्यमयी लगी, 'क्या नाम है? मैंने आगे पूछा.'

'साथी.'

'ये भी कोई नाम है? साथी तो कहते हैं!'

'जी साब 'साथी', अपुन का नाम साथी, जात साथी, गांव साथी धरम साथी, सब कुछ साथी, साब अब तो यही है या जिससे भी अपुन सुन लें . . .' वो होटल वाली भाषा में बोला था और मुस्कराकर चला गया.

'बाबूजी ये कुछ भी नहीं बतायेगा. नसेड़ची है. बहुत झूठ बोलता है. किसी को कुछ बताता है किसी को कुछ, मुझे भी कुछ नहीं बताता. इसके मुंह लगना ही बेकार है.' चाचा बीच में बोला और वो मुस्कुराता हुआ अपने काम में लग गया.

और उस दिन तो उसके विषय में जानने की छटपटाहट अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई. होटल के नया नौकर दस वर्ष के रघुवा के पैर में ठोकर लग गई थी. पानी के गिलास सहित मेज पर औंधा गिरा था. वहां बैठे हुए दीवानजी की सारी वर्दी भीग गयी थी. गाली की जबरदस्त बौछार के साथ एक भरपूर हाथ दीवानजी ने रघुवा के गाल पर जड़ा. चाचा भी काउंटर से भागकर आया और ताबड़तोड़ रघुवा पर पिल पड़ा.

ऐसे में ही वो बीच में खड़ा हो गया. चाचा को धक्का देकर चीखा, 'अब हाथ उठाया तो ठीक नहीं कमीनों! अनाथ के बेसहारा बच्चे पर हाथ उठाते तुम्हें शर्म नहीं आती. दरिंदो . . .' और झुककर रघुआ को चोट को सहलाने लगा था. 'मेरा राजा, मेरे भइया मेरे मुन्ना . . .' कहकर चुप कराने लगा था. खून सने अंगूठे को मुट्ठी में भींच लिया था. चाचा और दीवान सनाके में आ गये . . . 'स्साले ये नुकसान क्या बाप देगा!'

'बाप तक न पहुंचो सेठ, नुकसान मैं दूंगा. रघुआ अभी बच्चा है. पूरी नींद सो भी तो नहीं पाता. बहक गया उसका पैर, पर दया नाम की चीज तुम दरिंदों के पास कहां! खून पीना जो जान गये हो.' चाचा और दीवान, दोनों उसे मारने को लपके, न जाने कैसे यंत्रवत-सा मैं बीच में आ गया. किसी तरह मामला शांत किया. उस दिन वो मुझे अपना ही कोई अंग लगा था, सोचा था, अब चाचा उसे निकाल देगा. पर दूसरे दिन चाचा ने होटल पहुंचते ही मुझसे कहना शुरू किया, "बाबूजी और कोई होता तो निकाल बाहर करता स्साले को. पर हरामी काम के टैम पे मशीन हो जाता है. बड़े-बड़े होटल में काम किया है इसने. बहुत होशियार है. पैसे के मामले में भी कोई झंझट नहीं बस नशा पूरा होना चाहिए. नशे में बहक जाता है वैसे पढ़ा लिखा है."

"पर है कहां वो?"

"रघुआ की तीमारदारी में लगा है. डाक्टर के पास पट्टी बंधवाने गया है."

18 वर्ष का साथी अनायास 81 वर्ष का बूढ़ा कैसे हो गया. रघुआ को लेकर उसका यह वात्सल्य उसके बचपने पर कैसे हावी हो गया! यह सब एक अनबूझ पहेली की तरह मुझे रहस्य लोक में प्रवेश करता गया. मेरा स्नेह उसके प्रति द्विगुणित हो गया पर उसने अपने जीवन का एक भी झरोखा मेरे सामने नहीं खुलने दिया. मेरी अपने प्रति रुचि देखकर बस एक परिवर्तन उसके अंदर आया था. वो मुझे 'साब' से 'दादा साब' कहने लगा था और मेरे होटल में पहुंचते ही मुझे बहुत रुचि से पढ़ते-पढ़ते वो बड़बड़ाने लगता था, "कहां जायेगा सब जगह, खून खराबा, दंगा फसाद, गोली खून, ठांय-ठांय, मत भाग बे, मत भाग यहीं रह, यहां चैन है अभी!"

पर उसका यह चैन भी एक दिन छिन गया. शहर में अनायास सांप्रदायिक दंगे की आग भड़क उठी थी. रात भर गोलियां चली थीं. 'हर-हर महादेव' और 'अल्लाह ओ अकबर' के नारों से आकाश गूंजता रहा था. देखते-देखते शहर छावनी में तबदील हो गया था शहर भर में सिपाही जीप, टोप, और राइफलें फैल गयी-थीं. आधे से ज्यादा शहर में करफ्यू लग गया था. यह इलाका क्योंकि शहर से बाहर की ओर था इसलिए खुला था. होटल लगभग खाली था. चाचा काउंटर पर तैयार बैठा था, कब आग का रुख इधर हो और वो होटल बंद करे. साथी कोने वाली मेज पर बदहवास-सा बहुत ही भयभीत बैठा था. उसकी आंखें फैल गयी थीं. पुलिस की जीप का साइरन और यदाकदा गोलियों की आवाज उसे अंदर तक हिला जाती. चाचा झींक रहा था, "बाबूजी रात मैं भी नहीं जा पाया घर. ऐसे में कैसे जाता! यहीं सोना चाहा था पर स्साले ने सोने ही नहीं दिया. रात भर चीखता रहा हरामी का पिल्ला जैसे गोलियां इसके मां-बाप पर पड़ रही हों. बार-बार निकलकर भाग रहा था. नहीं रोकता, तो स्साले की लाश सड़क पर पड़ी होती." चाचा ने क्रोध की नजर से साथी को घूरा. वो बेआवाज, गुमसुम मुझे देख रहा था. अनायास वो मेरे पास आया, "दादा साब! यह भी मेरा शहर हो गया है. मुझे बचा लो वो मुझे भी मार डालेंगे. सबको मार डालेंगे. अब इस शहर पर भी दरिंदे हावी हो रहे हैं. दूध और खून मिलाकर पियेंगे. दादा साब, मैं यहां नहीं रहूंगा. मैं जाऊंगा, जाऊंगा . . . जहां यह सब न हो." और वो भागने लगा. बमुश्किल तमाम मैंने उसे पकड़ा. अनायास इस इलाके की सारी दुकानें बंद होने लगीं. इधर भी करफ्यू लग गया था! पुलिस एनाउंस कर रही थी. चाचा ने जल्दी से

होटल बंद किया और चल दिया. सड़क पर मैं और साथी रह गये. उसकी आंखों में बियाबान रेगिस्तान-सा फैला था, जड़-सा खड़ा हो गया एकदम दिशाहारा-सा. लोग दौड़ रहे थे. मैंने उसका हाथ पकड़ा और दौड़ लिया. गोलियों की आवाज पीछा कर रही थी. कमरे में आकर हमने दम लिया. उसने झटपट कमरे की खिड़कियां, दरवाजे बंद कर दिये. वो थर-थर कांप रहा था. फिर वो कोने में दुबककर बैठ गया. मैंने उस समय उसे कुरेदना चाहा पर वो गुमसुम बैठा रहा. मैंने उसे चारपायी पर लिटा दिया.

रात्रि में न जाने कितने बजे वो चीखकर मेरी चारपायी पर आ गया मुझसे चिपट गया, 'बाबू...' थोड़ी देर तक वो मुझसे चिपटा रहा फिर अनायास, 'माफ करना दादासाब, मैं बहक गया था.' कहकर अलग होने लगा. पता नहीं कैसे मैं उसको चिपटाए रहा. यह पक्ष मेरे जीवन का पहली बार उद्‌घाटित हुआ था. धीरे-धीरे उसने स्वयं को सुरक्षित महसूस किया—फिर उसके शब्द फूटे...

"इस शहर में और उस शहर में कोई अंतर नहीं किसी भी शहर, किसी भी प्रदेश में कोई अंतर नहीं. न जाने कहां-कहां भटका, पर शहर अपना ही लगा. घर नहीं... घर उजड़ गया दादा साब... एक शहर था इसी शहर जैसा या किसी भी शहर जैसा, सब नाम अब तो एक से लगते हैं. उस शहर में दो कमरों का एक छोटा-सा घर था. आंगन, तुलसी के बिरवा वाला आंगन, हनुमानजी की मूर्ति से सजा आंगन, गफूर चाचा के आंगन से चिपटा हुआ आंगन..." वो खोया-खोया बोल रहा था अब वो उसी आंगन में पहुंच गया था. और आंगन में था एक आजाद चहकता पंछी... विशन... चौदह वर्ष का विशन... पढ़ाई में बहुत तेज था... एक रात बापू और मां बात कर रहे थे...

'विशन अपनी पढ़ाई में बहुत तेज है पारू, देखो आठवें में फर्स्ट आया है. हनुमान बाबा कृपा बनाये रहें तो खूब पढ़ाऊंगा इसे जी भर के. एक दिन ये अफसर बनेगा. बहुत बड़ा अफसर. स्कूल में सबसे तेज है. अभी चौदह का ही तो है, नौवीं में आ गया है. इसके मास्टरजी मुझसे तारीफ कर रहे थे. मैं उनके घर भी तो दूध देने जाता हूं.'

'विशन की तो ठीक है, पर भोलू तो एकदम भोंदू है. थोड़ा इसकी ओर भी तो देखो, मुनिया तो अभी छोटी है."

'तू भी तो अभी छोटी है पारू, आ इधर आ.'

'चुप रहो जी थोड़ा शरम करो...' रात लाज में सिमट गयी थी... 'मां...' और एक हिचकी उभरी फिर हिचकियां बढ़ गयीं...

मा ऽ ऽ थी ऽ ऽ कहते-कहते जुबान लड़खड़ा गयी. विशन... विशन चुप हो जाओ...!

'चहकते हुए आंगन में पहुंच गया था दादा साब' कुछ देर बाद वो बोला, 'बापू और मां सपने देखा करते थे दादा साब विशन तब तक सपना देखना नहीं सीखा था. बचपन में दिन के सपने नहीं होते हैं इसीलिए तो मजा आता है उन दिनों' वो फिर दार्शनिक हो उठा था.

'छोटा भाई था भोलू, गोल-मटोल थोंदड़-मोंदड़-सा बहुत शैतान. दूसरों को तंग करने वाला. दिन भर हंसता-खेलता रहता था. उसके लिए सब कुछ लुटाने का मन होता था. दिन भर चोटें लगती थीं एक दम नहीं रोता था. एक दिन तो ठोकर लगने से पैर का अंगूठा फट गया था. दादा साब मैं रात भर नहीं सो पाया था.' वो फिर गुम हो गया. मेरी आंखों के समक्ष होटल वाला नया लड़का रघुआ घूम गया. वो पूरा दृश्य फिर से हो गया. आंख नरम हो गयीं, "क्या हुआ विशन घर को? भोलू को...?"

"क्या नहीं हुआ दादा साब. कभी तूफान आते देखा है भयंकर आंधी बारिश ओले... नहीं देखा न... तूफान के बाद खेतों में, बागों में चिड़ियों के गिलहरियों के घुले हुए शरीर, नुचे हुए पंख मिलते हैं. खून तक नहीं दीखता धुले हुए रुई के टुकड़े भर रह जाते हैं. बस, यही हुआ घर का, मां का, बापू का, मुन्नी का, गफूर चाचा का, इरफान और वहीदन चाची का. पर भोलू... भोलू तूफान में खो गया. हमेशा के लिए खो गया. भोलू गाय के थन में मुंह लगाकर दूध पी लिया करता था. एकदम गबदू था.

एक गाय और एक भैंस थी बापू के पास. बहुत दूध देती थी. बापू बच्चों जैसी हिफाजत करते थे. उनकी सुबह उठकर दूध काढ़ते और टंकी में दूध भरके साइकिल से दूध बांटने जाते. लौट कर नहाते-धोते घंटों हनुमानजी की पूजा करते. मां खाना बनाती, घर को लीपती पोतती कंडे पाथती. हम सबको तैयार करती दिन भर किसी न किसी काम में लगी रहती. रात में जैसे मुर्गी अपने बच्चों को समेट लेती है वैसे ही पूरी गृहस्थी को समेटकर सो जाती. मीठे-मीठे सपने देखती. उसे क्या पता था, सारा सपना एकदिन बिखर कर चूर हो जाएगा." वो फिर चुप हो गया था. संभवतः बिखरे हुए सपने के अवशेष संजोने लगा था. अनायास कहीं से चीख उभरी. गोलियों की तड़-तड़ की आवाज सुनकर वो उठ बैठा एकदम उत्तेजित हो गया, "खून... खून... दूध और खून बापू—मां... मुन्नी... लाशें, खून. गफूर चाचा..." वो कांप रहा था.

"विशन-विशन क्या हो गया तुम्हें!" मैंने उसे झकझोरा.

"एं... हां... कुछ नहीं... दादा साब... कुछ नहीं." फिर चुप्पी.

"ऐसी ही रही होगी वो भयानक रात. पर हमें कुछ भी नहीं मालूम पड़ा... रोज की भांति गफूर चाचा ने अपनी साइकिल की घंटी सुबह-सुबह हमारे दरवाजे पर बजायी. बापू ने भी अपनी साइकिल पर दूध की टंकी बांधकर साइकिल बाहर निकाली, दोनों दूध बांटने निकले. सूरज उगने के साथ-साथ मुहल्ले में गरम-गरम खबरें आयीं, शहर में दंगा हो गया है. लोग एक-दूसरे को मार रहे हैं. मुहल्ले के लोग एक जगह जमा होकर अनुमान लगा रहे थे. सभी शहर से आने वाली सड़क की ओर देख रहे थे. हमारे, मां और वहीदन चाची के मुंह सूख गये थे. तभी किसी ने खबर दी लखन और गफूर भी दंगे की चपेट में आ गये. बदहवास से हम लोग भाग लिए शहर की ओर. मां की गोदी में मुन्नी थी और वहीदन चाची की गोदी में इरफान.

सड़क पर दूध की टंकियां औंधी पड़ी थी साइकिलें टूटी हुईं. सफेद आकाश में लाल सूरज था सड़क पर सफेद दूध और दूध में मिला हुआ खून, बापू और गफूर चाचा का खून... अनगिनत घाव थे; दोनों के शरीर पर, मां और चाची लाशों से चिपटकर चीख रही थी कि इतने में भीड़ का एक रेला आया. मैं पेड़ की आड़ में खिसक गया. दूसरी ओर से फिर भीड़ का एक और रेला आया. नारे, चीख-पुकार और मारधाड़, ठांय-ठांय मच गयी कुछ देर बाद सब शांत. सड़क पर कुछ लाशें और कुछ घायल बिखर गये, मां और चाची का खून भी दूध में मिल गया. मां की लाश के पास मुन्नी का धड़ पड़ा था. सर का पता नहीं था. वहीदन चाची एकदम नंगी पड़ी थी. खून से लथपथ. गोदी में इरफान नहीं था शायद. चिथड़े उड़ गये थे इरफान के... वो फिर एक हूक भर के रोया... हिचकियों ने थमने का नाम ही नहीं लिया. धीरे-धीरे वो सामान्य हुआ.

"दरिंदे पी गये सारा खून दादा साब बताओ न... भीड़ ने किसी की जात पूछी... पूछा किसी का धर्म. बस वहशी पागल भीड़ का धर्म केवल खून होता है, केवल खून. मुझे उसी दिन मालूम पड़ गया था कि भगवान मर चुका है. अगर होता तो अपने भक्त लखन दूधिया की रक्षा न करता. पांचों टाइम के नमाजी गफूर चाचा को न बचाता. दरिंदों ने भगवान की लाश को बीच में खड़ा कर लिया है और ठांय-ठांय... ठां..." उसके चेहरे पर तीव्र घृणा के बादल छा गये थे. आंखों में उत्तेजना समा गयी थी. काफी देर तक वो अपने अंदर का आक्रोश दबाता रहा. देर लगी उसे सामान्य होने में...

"और भोलू का क्या हुआ?"

उसने जैसे मेरी बात ही नहीं सुनी. अपनी रौ में ही बोलता गया, "मैं सच कह रहा दादा साब, जो कुछ भी मैंने इतनी उम्र में देखा है उससे साफ अहसास हो गया है कि आदमी अंदर से दरिंदगी पालता आ रहा है. यह दरिंदगी वक्त बे वक्त उजागर हो जाती है. बहाना कोई भी हो सकता है, धर्म का मसला बहुत तेजी से आदमी को अधार्मिक बनाकर दरिंदा बना देता है. दादा साब—कभी कभी हंसी आती है इन धर्मों पर और इन धार्मिक लोगों पर, ये प्रेम नहीं घृणा सिखाते हैं. ये आदमी के बनाये हुए धर्म आदमी का, खून चूसते हैं. दादा साब अब वक्त आ गया है कि इन धर्मों की और इनको चलाने वालों की अर्थी निकाल दी जाये. इन्होंने अपने भगवान अलग बांट लिये हैं और उन भगवानों के पीछे खड़े होकर ये असली भगवानों को मारते हैं. ये इनके मन के बनाये भगवान हैं. दादा साब इन्हें भी गिर जाना चाहिए. असली भगवान का खून कर रहे हैं, ये ही दादा साब ये ही. भाईजी को भी इन्होंने ही मारा. भून दिया गोली से मेरी आंखों के सामने... भाईजी सचमुच भगवान थे. वो फिर खो गया... गुमसुम... कुछ देर बाद बोला—होटलगीरी की इतने सालों की जिंदगी में केवल एक होटल ऐसा लगा जो होटल होते हुए भी घर जैसा हो गया था. भाईजी चलाते थे उसको... भाई जी.. सरदार गुरिंदर सिंह, पर उन्हें नाम से कोई भी नहीं जानता था.

"मैं भोलू के विषय में पूछ रहा था."

"हां... भोलू... मैं पंजाब पहुंच गया था, कहां-कहां नहीं भटका, मद्रास, महाराष्ट्र, आसाम, पंजाब... पर हर जगह वही काट-मार दरिंदगी... हैवानियत... पर दादासाब—हर मार-काट में सच्चे, सीधे और गरीब आदमी ही मारे जाते हैं. कुछ लोग आदमी लड़वाने का शौक रखते हैं, उनका धंधा हो जाता है, तभी वो राज्य करते हैं. खून पी-पीकर ताकतवर बन जाते हैं.

मैं अपना शहर छोड़कर मद्रास भागा था. वहां भी रहा कुछ दिनों पर एक दिन उस शहर में भी हैवानियत जागी, उनका बहाना था भाषा का. आप तो जानते हैं, दादा साब आप तो अखबार पढ़ते हैं, वहां से भागा महाराष्ट्र. वहां भी मारकाट... ऊंची-नीची जाति का बहाना. बंगाल पहुंचा वहां मजदूर मिल-मालिक, किसान जमींदार का झगड़ा वहीं अमीरी-गरीबी का बहाना.

आसाम गया तो वहां तो बाप रे बाप... हैवानियत खुलकर अट्टहास कर रही थी. वहां तो लाशों के ढेर देखे. इन आंखों से वहीं पर लगी थी दादा साब नशे की लत, फिर ये लत जिंदगी का हिस्सा बन गयी कुछ देर के लिए ही सही सपने में तो रखती है. और नशे में अपने मर्जी के सपने देखे जा सकते हैं, खूब देखे हैं मैंने सपने, आज भी देखता हूं. ज्यादा बस एक ही सपना देखता हूं. कोई एक ऐसा शहर है जहां सब सुखी हैं, जहां कोई जाति नहीं है कोई अमीर-गरीब नहीं है. जहां सबका एक ही भगवान है. एक ही धर्म... बस प्रेम का धर्म उस शहर में मेरा अपना घर है. छाया है. चहक है. पुलक है. बापू है. मां है, मुनिया है, भोलू है... गोल-मटोल भोलू...

दादा साब मैं फिर बहक गया... हां तो मैं दो-दिन तक अपने शहर में गलियों में दुकानों में छुपा पड़ा रहा, भूखा प्यासा, शहर भर में करफ्यू लगा था. दो दिन बाद मैं किसी तरह अपने घर पहुंचा भोलू के पास भोलू उस दिन घर में ही रह गया था. बुखार में पड़ा था. घर का दरवाजा खुला था. घर में कुछ भी नहीं था एकदम उजाड़-सा दीवाना होकर भोलू-भोलू चिल्लाने लगा. लोगों ने बताया वो उसी दिन कहीं चला गया था, लौटकर ही नहीं आया. मैं एकदम पागल-सा हो गया था. बहुत तलाश किया पर वो कहीं नहीं मिला. यह भूख मुझको होटल पर ले गयी बर्तन धोने के एवज में रोटी मिली. बस, तबसे यह होटल मेरी भूख का सहारा बनकर रह गया. अ

मेरा घर मुझे वापस नहीं मिल सकता. मेरे सपने का शहर भी दुनिया के किसी कोने में नहीं हो सकता, पर यह हकीकत जानते हुए भी मन बार-बार वही सपना देखना पसंद करता है. हां कभी-कभी एक और सपना देखने लगा हूं अब... कि मैं होटल का मालिक बन गया हूं और सारे होटल वाले, जिन्होंने मुझे सताया है छोटे-छोटे बेघर बच्चों का खून चूसा है, वे सब मेरे होटल में नौकर हैं और मैं उनको ऑर्डर देता हूं... ये सपना खूब मजा देता है." इतना कहकर वो हौले-से मुस्कुराया.

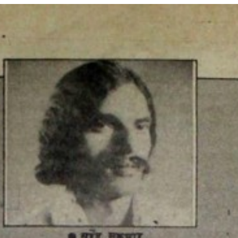

● सुरेंद्र सुकुमार

पर दादा साब भाईजी को कभी भी मैंने अपने सपने वाले होटल में नहीं देखा. आ भी नहीं सकते वो. भाईजी संत आदमी थे. संत उनके चेहरे पर हमेशा मुस्कुराहट रहती थी. उठते बैठते नानक कबीर के दोहे उनकी जुबान पर रहते थे. न जाने कहां-कहां के भूखे गरीब उनके होटल पर फ्री खाना खाते थे. होटल के सब नौकरों को खिलाकर खुद खाना खाते थे. प्रेम तो जैसे उनके रोयें-रोयें से टपकता था. उनके प्रेम ने मुझे सब कुछ भुलवा दिया था. तब बहुत कम सपने देखता था. वहां तो मेरा नशा भी छूट गया था. घर छोड़ने के बाद पहली बार वहां इतने दिन टिका था. वहीं उनकी छाया में रहता तो कहीं नहीं भटकता पर दरिंदों ने एक दिन उन्हें भी भून डाला. उस दिन मैं एक बार फिर अनाथ हुआ था" उसकी आंखों में फिर पानी छलछला आया था... "उन्होंने शायद ही कभी कटु वचन बोले हों. शाम को रोज ही काफी लोग उनके पास जमा हो जाते थे. वो प्रेमपूर्वक धार्मिक चर्चा, ईश्वर की चर्चा करते थे. एक दिन पहले शाम के सत्संग में उन्होंने किसी प्रसंग में कहा था, "मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारों में अब ऊपरवाले का निवास नहीं रहा है ये तो राजनीति के अड्डे बन गये हैं चोरों लुटेरों के घर, इनसे सावधान रहना चाहिए... ईश्वर तो सच्चाई में, प्रेम में बसता है. बस उनके यह वाक्य ही हजम नहीं कर पाये दरिंदे. जीप में भरे हुए जाने कितने लोग आए और छलनी कर गये, मेरी आंखों के सामने. भाईजी मुस्कुराते हुए संसार से चले गये. भाईजी के मरने के बाद मेरा विश्वास कि ईश्वर मर गया है, दृढ़ विश्वास में बदल गया. उसी दिन मैंने पंजाब छोड़ दिया, और दादासाब आपके शहर, इस शहर में आ गया था. यहां फिर नशा बढ़ गया. शहरवाला सपना फिर आने लगा अब इस सपने में भाईजी शामिल हो गये थे मेरे सपने के शहर में सारे इंसान भाईजी जैसे होते हैं. काश यह सपना सच हो पाता. क्यों दादा साब दुनिया में कहीं कोई ऐसा देश है जहां ऐसा शहर हो... नहीं... हो कता... नहीं हो सकता मैं फिर सपने में भटक रहा हूं... इस शहर में भी वही हैवानियत है कुछ दिनों तो लगा था कि यहां कुछ शांति है पर यहां भी..."

कर प्रसंग से हटाना चाहता था. न मेरी आंखों में नींद थी न उसकी.

रात के तीसरे पहर तक मैं विचारों में रहा और विशन भी, न जाने कब आंख लग गयी प्रातः उठा तो देखा कमरे में विशन नहीं है. करफ्यू खुलते ही सबसे पहले मैंने स्वयं को चाचा के होटल पर पाया.

"बाबूजी क्या सोच रहे हैं खाना नहीं खायेंगे क्या?" चाचा की आवाज सुनकर मैं वर्तमान में आया "नहीं आज नहीं. कहकर मैं उठ गया मेरे पैर अनायास पीर वाली मजार की ओर बढ़ गये. शायद खंजड़ी वाला फकीर जानता हो विशन कहां है! शायद वहां हो पर वो अकेला बैठा खंजड़ी बजा रहा है दोहे के स्वर मेरे कानों में पड़ रहे हैं.

गोरी सोवे सेज परमुख पर डारे केस,
चल खुसरो घर अपने रैन भई चहुं देस. □

● कोड़ियागंज, अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश)

सिक्का

नासिरा शर्मा

इश्क तो वह सूरज है, जिसके चारों तरफ हर रिश्ता, वह चाहे मन का हो या तन का या दिमाग का हो, उपग्रह के समान परिक्रमा करता है. किसी रिश्ते के सामने घुटने टेककर दामन नहीं फैलाता, बल्कि दूसरों की खाली झोली भरता है, लेकिन एकतरफा इश्क? क्या हासिल होता है एकतरफा इश्क से? आठवें दशक की बहुचर्चित कथाकार की तफसील—

मेरी झोली खाली कब थी, उसमें इश्क का सिक्का मौजूद था, मगर उसे भुनाने का फन मुझे नहीं आता था. इश्क फरमाने और इश्क करने के बाजार से बहुत दूर मैं इश्क हो जाने की वादी में भटकी हुई थी. जहां न आदम था न आदमजाद, सिर्फ एहसास की लताएं और जज्बात से सायदार दरख्त थे, जिनके नीचे खुलूस के रंग-बिरंगे फूल खिले थे. वादी, जो मेरे वजूद में फैली थी, उसका एहसास उन ताजिरों को न था, जो अपने सिक्कों को दुनियावी सट्टा बाजार में कई बार भुना चुके थे. मैं उन्हें कैसे समझाती कि मैं इश्क की नाव पर अन्हा बैठी नफे और नुकसान की हिसाबी दरिया को कब का पार कर चुकी हूं. मगर मेरे इस दर्शन को समझे बिना लोग अपनी काल्पनिक उड़ानों की सलीब पर मुझे, बेबुनियाद अफवाहों की कीलों से ठोंकते और मैं हर बार सलीब से उतरकर अपने जख्मी वजूद को समेटकर तब उसके घावों को सहलाती हुई खुद से पूछती थी कि क्या इंसानों के बीच इंसानियत खुद में एक अटूट बंधन नहीं है? व्यापारिक संबंध बनाये बिना इंसान बेलौस, बेगर्ज होकर रिश्तों को नहीं जी सकता क्या?

कभी-कभी अपने इस मासूमाना सवाल पर हंस पड़ती थी, जब गम अपनी हदें तोड़ बैठता है तो उसकी अभिव्यक्ति आंसू नहीं हंसी बन जाती है. इसमें कोई शक नहीं है कि झूठ के बरसते कोड़ों ने उम्र के इस दौर में मुझे एक आंतरिक ज्ञान बख्शा है. हंसी के इन्हीं मद्धिम चिरागों की लौ में मुझे 'जश्ने गम' मनाने का सलीका आ गया है.

जब पहली बार सलीब पर टांगी गयी तो हैरत के पहाड़ तले दब गयी थी. तब दम तोड़ती सांसों में सच्चाई की तलाश की ललक जागी थी. बड़ा विश्वास था दूध का दूध, पानी का पानी हो जाने पर, मगर... महसूस हुआ कि सच की तलाश खारे पानी में प्यास बुझाने या सादे पानी से नमक निकालने की निरर्थक कोशिश है. सच, झूठ, सफेद, स्याह सब कुछ एक दूसरे से हम आगोश है.

क्षितिज जब अंधेरे में डूबता और सूरज का गोला दुनिया के दूसरे हिस्से को रोशन करने चला जाता है, उस समय कृत्रिम रोशनी से नहायी सड़कों को देखकर लगता, क्या है वास्तविकता? अंधेरे से निबटने के लिए क्या वास्तव में बनावटी सूरजों का सहारा लेना पड़ता है? मेरे किसी सवाल का जवाब मुझे नहीं मिलता. हां, हमदर्दी में पेश किये गये कंधे, जिन पर मैं सिर रखकर आंसू बहा सकूं और कह सकूं कि 'आह हमारा यही अंत है.' मैं सिहर उठती थी इस खयाल से कि बेवकूफ दोस्त से अकलमंद दुश्मन अच्छा है. मेरे अंदर की औरत मजबूती से सारे सवालों को जमा करके उनसे निर्मित दीवार से टेक लगाकर बड़े संतोष से वादी में फैली खुशबुओं को सूंघती थी.

"बचपन से तुम्हें खो जाने की आदत है. आखिर वह कौन-सी दुनिया है, जो तुम्हें हमारे बीच से इतनी बेबाकी से उठा ले जाती है." हजारों बार सुने इन तानों का क्या जवाब देती? जहां अपनी जबान समझने वाला ही न हो, वहां पर बात करने का मतलब ही क्या?

मेरे व्यक्तित्व की कुंजी मेरे पास थी, जिसके दरवाजे पर मजबूत ताला मैंने डाल रखा था. हर दस्तक पर मैं चौंकती थी, मगर उठकर दरवाजा खोलने की ख्वाहिश कभी न हुई, जिन दस्तकों पर मैं चौंकी थी, बाद में पता चला कि वह कुछ इस किस्म के हाथ थे, जो पैरों की भूमिका निभाते हैं. रास्ते में पड़े कंकड़ या खाली डिब्बे से दूर तक बेमकसद खेलते जाना उनकी आदत होती है और मैं किसी की आदत की लपेट में आना नहीं चाहती थी. अपने को संभालकर रखने की कला मुझे उस एहसास ने दी थी कि मैं शीशे की दीवार हूं, जरा से झटके से दरक जाऊंगी.

मगर हां, दूसरों के बोये कांटों को मैंने बहुत संभाल कर अपनी वादी के चारों ओर बाड़ की शक्ल में लगा दिया ताकि कोई भी बेदर्द अनजाना हाथ मेरी इस शादाब दुनिया के फूलों तक पहुंच न सके. उन आवाजों की मुझे कतई परवाह न थी, जो बार-बार मुझे सचेत करती थी कि जिस तरह इस दुनिया में जीना चाहती हो, वह जीवन-शैली बहुत मुश्किल है. मेरी चेतना हमेशा मुझसे सवाल करती थी कि जब मैं अपनी तरह से जी नहीं सकती हूं, फिर दूसरों की तरह कैसे जी पाऊंगी? तब अंदर बाहर दोनों आवाजों की प्रताड़ना सुनने की ताब मुझमें होगी? इस खयाल से लरजकर मैं अपने अंदर की दुनिया को उसी ताजगी के साथ जीती रही, जिस ताजगी से मैंने उसे संभाल कर रखा था. सो, अपने वजूद में खिले फूलों की गंध से मस्त सायदार दरख्तों के बीच टहलती हुई मैं पूर्ण संतुष्ट थी.

मैं हवा की बेटी बनी अपनी वादी में खोयी हुई थी. तुम आदम की औलाद बनकर उस वादी में दाखिल हुए. तुम्हें देखकर मैं ताज्जुब में पड़ गयी थी कि अब तक थे कहां? तुम नजर क्यों नहीं आये कहीं? तुम्हें देखे बिना इतनी लंबी उम्र गुजार दी? अभी मैं अपने से सवाल कर ही रही थी कि तुम जो गेहूं का दाना अपने साथ लेकर आये थे, तुमने उसे चखाया और मैंने उसे बड़े मन से चबाया. उसका स्वाद मुझे मेरी वादी से निकालकर एक नये संसार में ले गया, जहां पर सिर्फ तुम थे आदम का रूप. मेरे इश्क को नया आयाम मिला, नयी विस्तृता मिली. मैं नूर के दरिया को अपने वजूद के होंठों से गटगट करके पीने लगी.

मेरी वादी में इश्क का एक नया फूल भी खिलना था, इस हकीकत को मैं नहीं जानती थी. मैं तो सिर्फ इतना जानती थी कि इंसानी रिश्ते ही खरे सिक्के होते हैं. मगर बाद में पता चला. मर्द की शक्ल में भी इश्क खनकता खरा सिक्का होता है. नजर की बात है, जिसमें एक मर्द एक औरत होते हैं. वह चलते जाते हैं, जब तक मौत उन्हें अपने आगोश में नहीं भींच लेती है. मगर जब जवानी की नदी पहाड़ों के गुरूर को चूर करती मैदान में उतरी, जिंदगी को ठहराव मिला, उस वक्त तुम इश्क के सूरज की तरह मेरी जिंदगी में नमूदार हुए. मुझे मैदान के फैले सीने को पार करते बहते जाना था और पुरानी किरणें मेरे बदन में सारे उभारों को चूमती मुझे गर्मी अता कर रही थी. उस गर्मी, उस लज्जत से मैं इनकार न कर सकी और अपनी लहरों के हार तुम्हारी किरणों के सुपुर्द कर बैठी.

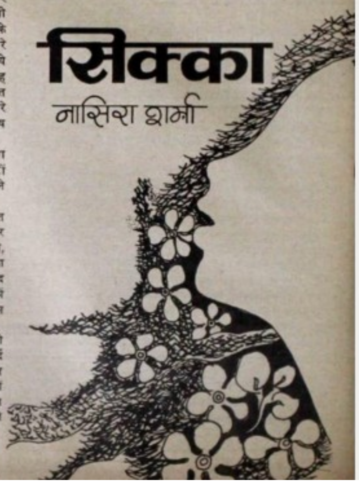

पहली बार मैंने इतने ध्यान से तुम्हें देखा था. तुम्हारे वजूद की खुशबू से मैं आशना थी, तुम इतने हसीन होगे, इसका एहसास पहली बार जागा. आंखें और होंठ जो इश्क की लताफत का खजाना होते हैं, तुम्हारे पास थे. तुम्हारी आवाज मुझे जिंदगी के उस बाग में ले गयी, जिसका ख्वाब मेरे कुंवारे एहसास ने देखा था. कितनी खुशबू थी उस रात——रोशनी, साये, दरख्त, इमारत, इंसान सब मुझसे पीछे छूटते गये और मैं तुम्हारे वजूद की गहराई में डूबती चली गयी. क्या आज से सालों पहले तुम मर्द न थे, मेरी आंखों ने एहसास के इस खजाने को परखा क्यों नहीं. तुमने तो मेरे दरवाजे पर दस्तक भी न दी थी. बस, मेरी वादी में किसी शराबी आबशार की तरह गिरने लगे थे.

मुझे एहसास होता है कि तुम्हारे गले में ही सुरों का कंपन और लय का वास नहीं है, बल्कि तुम्हारे हाथों के पोरों में भी धुन निकालने की हरकत छिपी हुई है. तुम मुगन्नी (गायक) और मुतरिब दोनों हो, जो मेरे बदन के साज को छूकर एहसास के फूलों को खिलाते हो. नसों में नगमों के गर्म बहाव के बांध खोलते हो. तुम सिर्फ एक रोशनी में नहाया एहसास हो, जिसे इश्क कहते हैं.

तुम्हारे अंदर की रूह जितनी खूबसूरत है, उतने ही प्यारे अंदाज से तुम्हारे जिस्म से झांकती है कि मुझे डर लगने लगता है कि इतना हुस्न मेरा नातवां जिस्म झेल नहीं पायेगा. तुम्हारा लम्स मुझे 'सुरूर' की उस कैफियत में ले जाता है, जिस नशे के सरूर को खुदा ने भी हलाल कर दिया है. आज पुरानी शराब के एक जाम ने मुझे मदहोश कर दिया है कि मैं अपने सारे दम, खम को भूल चुकी हूं... हां... उसकी जगह मेरे अंदर एक जैसा गुरूर ऐसा नाज सिर उठा रहा है, जो सिर्फ एक मर्द ही औरत को अता कर सकता है. मैं किसी की बन नहीं पायी थी, मगर तुम्हें अपना बनाना चाहती थी. अपना दामन तुम्हारे दिये फूलों से भरना चाहती थी. यह मेरी खुदगर्जी नहीं, मेरे दिल की मांग थी. मेरा नशा एहसास का नशा था. मेरी दीवानगी मेरे इश्क की दीवानगी थी. मैं इश्क के हर एहसास को ओस की बूंद की तरह संभाल कर पीना चाहती थी ताकि मेरे दिल का गुलाब हमेशा खिला रहे, जिसकी खुशबू तुम थे.

मेरे बदन में बहुत सारे गम, बहुत सारे दर्शन, बहुत सारे अदबी पारे छिपे हैं, उसके साथ ही मर्द की लज्जतयाबी की गहरी झील भी. उस झील की गहराई में तैरते हुए तुम्हें पार भी जाना होगा, जहां पर तुम्हारी दुनिया तुम्हारा इंतजार कर रही होगी... मुझे तुम्हारी दुनिया का एहसास इश्क का सिक्का देते हुए हुआ, हाथ बीच में थम गया और...

सम्मोहन की पिटारी को, जिसमें तुम्हारी यादों की जाने कितनी रंग-बिरंगी तितलियां भरी हैं, खोले बैठी हूं. तुम्हारी बातों का खुरदुरापन याद आता है, प्यार की अभिव्यक्ति का भी. प्यार अंधा होता है, ऐसा गुमान भी तुमने होने नहीं दिया. बस, मेरे दिल के शहर में धमधम करते मेरी नसों पर चलते हुए दाखिल हो गये. मेरा सारा शहर घूम लिया, हर खिड़की, हर दरवाजे से झांक कर मुझे देख लिया और बड़े हक से मेरे दिल के ऐवान में बैठ गये.

मेरे दिल के दरीचे तुम्हारे लिए खुल चुके थे. उन्हें बंद करना मेरे बस की बात नहीं थी, फिर तुम तो बिना दस्तक दिये किसी नशीले आबशार की तरह मेरी वादी में बेसाख्ता गिरे थे और उसी मुक्त बहाव के साथ मेरी इश्क की नाव को खेने लगे थे. तुम्हें पाकर वादी में बहार आ गयी थी. जज्बात के सायेदार दरख्त शराब से भीगकर ज्यादा हरे और पत्तियों से लद गये थे. एहसास की बेलें फूलों से भर गयी थीं और उनके खिले रंग-बिरंगे बेगर्ज बेलौस खुलूस के फूल जैसे मेरे मन की वादी पर दबीज कालीनों की तरह बिछ गये थे. मेरे लिए इश्क सिर्फ इश्क था, जिसे पाकर दुनिया भी कदमों पर झुक जाती है और इंसान अपने को बादशाह समझने लगता है, मगर तुम दुनिया के जरिए मुझे पाना चाहते थे. इस संतोष के लिए कि तुमने दुनिया से जो चाहा, पाया. जिस चीज की ख्वाहिश की, वह तुम्हें मिल गयी. तुम्हारी चुनौती ही मुझे कहीं परदर सुरंग ले गयी, जहां पर दुःख का अंधेरा लम्हा-लम्हा बढ़ता नजर आ रहा था. और मेरी परछाई भी मेरा साथ छोड़ने लगी थी.

दुनिया की परवाह तो मैंने किसी भी इंसानी रिश्ते में नहीं की थी, रिश्तों के चाहे एकतरफा ही सही, रिश्ते की सारी गरिमा के साथ जी थी. तुमसे मेरा रिश्ता औरत-मर्द का अबदी (अमर) रिश्ता था, जिसे मैं हर स्तर पर जीने का हौसला रखती थी, मगर तुम दुनिया में कुछ बन जाने के नशे में शराबोर थे. दुनियावी सड़क पर सबसे आगे निकल जाने के जुनून से पारे की तरह बेचैन रहते थे. भौतिक दुनिया की साज-संवार से जब तुम्हें फुर्सत मिलती और तुम आराम की जरूरत महसूस करते, तब मेरे समीप आकर थम जाते थे. वही समय तुम्हारी नजरों में चाहत थी, वरना समय का इतना-सा टुकड़ा भी तुम दुनियावी मसलों के हल में खर्च कर देते, यूं मेरे साथ न गुजारते. बहरहाल, तुमने इस मामूली 'समय' के टुकड़ों को पेशकीमती बनाकर अपने अमूल्य बलिदान का एहसान मुझ पर जताया. मैं क्या करती, घुटकर रह जाती थी कि एहसास की कीमत क्या कभी लग सकती है? क्या जज्बे को तोला जा सकता है?

जब तक तुम मेरे पहलू में बैठे मेरी जुल्फों को संवारते उनसे खेलते थे. तुम्हारी जबान तुम्हारे हाथ का साथ नहीं देती थी. मेरी रूह को तुम्हारे मुंह से निकले दर्द से बेनियाज अपने घर, परिवार और व्यापार की समस्याओं को सुनाने में डूबे रहते थे. मैं दर्द के भंवर में फंसी हुई सिर्फ इतना सोच पाती थी कि दंदासा की बेजबान छाल मेरी आबरोटी जुल्फों से कहीं ज्यादा जानदार और बेजुबान हैं, जो अपना रंग

● नासिरा शर्मा

तो छोड़ती है. मैं इश्क पर ही तो खड़ी थी, वरना मैं तुमसे मांग क्या रही थी? तुम्हारी दुनिया तुम्हारे पास थी, फिर भी तुम्हें कभी-कभी अपनी दुनिया के छूट जाने का भय सताने लगता था. मैं कैसे तुम्हें समझाती कि इश्क सिर्फ दिल की मांग करता है, दुनियावी घरौंदों की नहीं. इश्क हर तरह के बंधन, हर तरह के भय से मुक्त एक अनुबंधन का नाम है, जिसकी तर्क रचना और बनावट समर्पण है.

तुम्हारा प्यार मुझे जाने क्यों एतमाद न दे सका और यह एहसास जागता गया कि तुम इश्क की धरती से उखड़ा एक ऐसा दरख्त हो, जो धरती के लाख उर्वर होने पर भी दोबारा जम नहीं सकता है. तुम जड़ की गहराई पर नहीं शाख के फैलाव पर विश्वास करते थे. तुम्हें इश्क की लज्जतों की परवाह न थी, बल्कि दौड़-भाग कर अपना सिक्का जमाने में मजा आता था. मैं उसी मजे की एक कड़ी भर थी. इस कड़ी को तुम प्यार कहते थे. तुम प्यार के जिस स्तर पर खड़े थे, वह मेरी संवेदनाओं की पहली सीढ़ी भी न थी. इश्क तो वह ज्वालामुखी होता है, जो हमेशा दिल के धरातल के नीचे खौलता बहता रहता है. वह एक कुदरती बहाव का नाम है, हिसाब से बहुत दूर संवेदनाओं के आवेग से भूकंप ला देनेवाला. वह बंधे समय का नाम नहीं है, बल्कि समय को अपने एहसास की जकड़ में दबोचनेवाली एक शक्ति का नाम है.

मैं चूंकि औरत हूं, इसलिए आज तक रिश्तों को विश्वास दिया है, लिया नहीं. मुझे विश्वास देने वाला पैदा ही नहीं हुआ है. यह सोचकर कभी-कभी गमगीन गारों में भटकने लगती थी. गार की पथरीली दीवारों से इतनी बेकरारी से लिपटती थी कि मुझे लगता था कि आंसू मेरी आंखों से नहीं, बल्कि पत्थर की दीवारों से बहकर मेरे शानों को भिगो रहे हैं. मेरी आत्मा किस चीज की प्यासी थी, इश्क का वह कौन-सा चश्मा था, जिसे पीने के लिए मैं व्याकुल रहती थी. कभी-कभी लगता था कि तकदीर तो शमा की लेकर आयी हूं. अपने ही पिघले मोम की पैरों में जंजीर पहने हुए हूं, फिर दूसरों से रोशनी की तमन्ना कैसी?

इस मामूली एहसास ने मेरी खामोश वादी में पतझड़ की हवाएं बहानी शुरू कर दी थीं. जज्बात के सायदार दरख्तों की झड़ती जर्द पत्तियों को हाथों में उठाकर उनसे पूछती थी कि इश्क तो बहता दरिया है, उबलता चश्मा है, बरसता पानी है, फिर यह जर्द पत्ते क्यों?

तुम्हें पाकर जिन तन्हा गारों में जाना छोड़ चुकी थी, अब दोबारा जाने लगी और दीवारों पर फैली सीलन की स्याही से पूछने लगी कि क्या यह रिश्ता भी मुझे एकतरफा ही जीना पड़ेगा? मेरे सिक्के का हमसाया क्या दूसरा सिक्का मुझे नजर नहीं आयेगा, जिसे मैं अपनी झोली में डाल सकती और हाथ में पकड़े सिक्के को उसकी झोली में·

तुम्हारे लिए मेरे दिल से मनों के हिसाब से फूल झरते रहे. तुम्हारे पास उनको चुनने की फुर्सत न थी. तुम्हारे दिल में इतनी जगह भी न थी कि फूलों से लदी टोकरियां उसमें समा सकती. वह सारे फूल तुम्हारे राह के बिछावन बन गये, जिस पर चलकर तुम बहुत उदासी से शिकवा करते थे कि तुम जिंदगी की दौड़ में बहुत पिछड़ गये हो. तुम सब कुछ पाकर उदास थे. तुम्हारी उदासी मेरे वजूद में नश्तर चुभो रही थी. मैं तुम्हें कैसे समझाती कि फूल खरीदना और रौंदना सब जानते हैं, मगर एहसास की डाल पर फूल को खिलता देखना और उस आवाज की सुगंध को महसूस करना सब का भाग्य नहीं, जो पल की सार्थकता को पा सके. बहुत चाहने पर भी तुम मेरे दिल के निहांखाने (गोपन) में मोती की तरह छिपे न रह सके और मेरी आंखों से आंसू की शक्ल में बह निकले.

विभिन्न मुकामात (सोपानों) से गुजरती हुई एकाएक ठहर जाती हूं, तभी महसूस होता है कि मेरे आगे कैफ की एक नयी राह खुल गयी है. उस मुकाम पर पहुंचने से पहले सोचती हूं, तुम्हें कोई सौगात तो देती जाऊं. मेरा दिल इस रंगीन दुनिया में कभी नहीं लगा. जिंदगी को उसी को लौटा देने की बात कभी मन में नहीं आयी, मगर मन कभी रमा भी नहीं. जाने किसे खोज लेने, किसे पा लेने की तमन्ना भरी तलाश मुझे विचारों और आराधना के जाने कितने घने जंगलों, बीहड़ों और पर्वतों पर ले जाकर छोड़ देती थी और मैं गहरी समाधि में लीन होने से पहले चौंक पड़ती थी, क्योंकि चेतना मुझे निरंतर बढ़ते प्रकाश की तरफ खींचने लगती थी. इस हकीकत से आगाह थी कि मौत एक बेखबर साथी है और जिसके लिए दुनिया कैदखाना हो, उसकी आरामगाह कब्र है. फिर भी मैं उस महान शक्ति से अक्सर सवाल करती थी कि आखिर मुझे बनाया क्यों? विशेषकर उस मिट्टी से, जिसकी तेरे पास इतनी कमी थी. उससे कोई परिंदा, कोई फूल बना देता ताकि मैं जीने की इस लंबी यातना से तो मुक्त होती? फिर सोचती हूं मिट्टी गूंधते समय शायद हाथ हिलने से कुछ तत्वों की मात्रा अधिक गिर गयी है, वरना इस आबाद खुशहाल दुनिया में मुझे अजनबी बस्ती का एहसास क्यों होता है?

बताओ, तुम्हें क्या उपहार दूं? तुम्हारे पास सब कुछ है. ऐसा कुछ दूं, जिसकी तुम्हें जरूरत हो. जिसे पाकर तुम अपने पिछड़ जाने का दुख भूल जाओ और एहसास के लम्स से चाहे पल भर के लिए ही, अभिभूत हो जाओ. मगर क्या दूं? मैं इस संसार को नश्वर ही नहीं, खुदगर्ज भी समझती हूं. उससे कुछ लेना जैसे मजाक-सा लगता है. दुनिया को तो कुछ देकर जाना होता है. उसका दामन खाली है. आवागमन का सिलसिला उसे खौफजदा करता है कि उसकी धरती पर कोई टिक नहीं पाता है. हम तो खाली हाथ इस सराय में आये थे और खाली हाथ जायेंगे. हां, इश्क का सिक्का जरूर मौजूद है. ऐसी हालत में तुम्हें क्या दूं? जिंदगी के बचे साल तुम्हें उपहार स्वरूप भेंट करती हूं. इन सालों का सदुपयोग तुम कर सकोगे, मुझे विश्वास है, क्योंकि यही सौगात मेरे पास है, जो तुम्हारे काबिल है. मन की गहराई से उस महान शक्ति से दुआ मांगती हूं, यदि वह महान शक्ति मौजूद है तो मेरी दुआ कबूल समझो. हाथ में थामा खरा, चमकीला इश्क का सिक्का वापस झोली में डाल लेती हूं. प्रेरणा, जिसमें स्रोत का आजीवन बहाव निहित है, उसकी कीमत नहीं मांगी जाती है, न वह यूं किसी एक को देने की चीज है. वह बांटने की निधि है.

इश्क तो वह सूरज है, जिसके चारों तरफ हर रिश्ता चाहे मन का हो या तन का या दिमाग का हो, उपग्रह के समान परिक्रमा करता है. किसी रिश्ते के सामने घुटने टेक कर दामन नहीं फैलाता है, बल्कि दूसरों की खाली झोली भरता है, क्योंकि फना में ही बका है . . .

मेरे वजूद की मुरझाई वादी फिर से शादाब होने लगी.

कोहे तूर मेरे सामने था और सत्तर हजार पर्दों में छिपे नूर के दरिया में मुझे मिलना था. हाल की कैफियत में डूबती, नूर की बारिश से भीगती चेतना मुझे प्रकाश पिंड के सामने लाकर खड़ा कर देती है.

मैं अपनी वादी में मस्त थी, जहां आदम था न आदमजात, सिर्फ जज्बात के सायदार दरख्त थे और एहसास की लताएं और रंग-बिरंगे फूलों की बेलौस बेगर्ज पुरखुलूस खुशबू थी, जिसने मुझे ज्ञान बख्शा कि 'अनलहक' ('अहं ब्रह्मास्मि) कहकर मंसूर ने इश्क को रुसवा किया था और ऐलान की सजा में दुनिया ने उसे फांसी का फंदा दिया था.

दिल के सारे दरवाजे, खिड़कियां बंद कर लेती हूं कि अनहलक की आवाज को कोई भी मेरे वजूद से उठता न सुन सके. □

● 108 उत्तराखंड, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली.

एक सही निर्णय

राधेश्याम

जगेसर को पत्नी की हत्या के इल्जाम में जब दारोगा गिरफ्तार कर रहा था तो क्यों गांव का बदनाम मुखिया उसकी मदद के लिए आगे बढ़ा? क्यों गांव में ऐसी अफवाह उड़ रही थी कि जगेसर की पत्नी के साथ मुखिया के बेटे ने बलात्कार किया और फिर मार डाला? इन्हीं सवालों के जवाब जब जगेसर को मिले तो उसने एक निर्णय लिया . . . एक सही निर्णय.

अचानक हवा का एक रेला जगेसर के घर से होता हुआ चला गया है. क्षण भर के लिए, उस भयंकर गर्मी में उसका शरीर से टकराना अच्छा लगा. जगेसर उठकर बैठ गया है. वैसे भी काफी देर से नींद नहीं आ रही थी. पिछले तीन-चार महीनों से, जब से सत्तो इस घर से गयी है, लगता है उसके साथ, उसकी नींद भी चली गयी है. बस जरा-सी आहट हुई नहीं कि कान चौकन्ने हो जाते हैं. आंखें अंधेरे में ही 'सत्तो' के होने का एहसास करने लगती हैं, उसका यह ख्याल कि 'सत्तो' आस-पास कहीं होगी, उसे बेचैन करने लगती है. वह रात को उठ-उठकर इधर-उधर टहलने लगता है, शायद कहीं सत्तो अंधेरे में दिख जाये. यद्यपि यह भ्रम है. सत्तो अब नहीं आयेगी. उसे पता है, लेकिन न जाने क्यों मन की संभावना खत्म नहीं होती.

जगेसर उठकर बैठ गया है. अपनी बगल में नन्हें गोपाल को बेसुध सोता देखकर, उसके मन में टीस-सी उठती है. एक लंबी सांस रात की गर्म खामोशी को चीरती हुई विलीन हो गयी है. यह तकदीर की बात है कि गोपाल अभी बाप के शरीर से लगकर सोया है, जबकि उसे सत्तो के साथ होना चाहिए. बाप हर हालत में बाप ही होता है, मां नहीं हो सकता. बस, फिर सत्तो की याद आते ही खड़ा हो गया है. वह सोचता है, अब जग गया है तो पेशाब कर ही ले. वह नाली पर बैठ गया है, तभी उसकी नजर खोपड़ीनुमा किसी चीज पर पड़ती है. उसका जी अचानक कैसा-कैसा होने लगता है. वह और ध्यान से देखता है. वह एक फूटी हुई, औंधी हंडिया है, जो अंधेरे में खोपड़ी की शक्ल की तरह लगती है.

जगेसर उठकर, लात से उलट-पुलटकर छोड़ देता है.

खोपड़ी की बात जेहन में आते ही वह भय से सिहरने लगा है. दूर कहीं से उल्लुओं की आवाज और पीपल पर बैठे गिद्धों के पंखों का फड़फड़ाना, रात को डरावनी बना जाते हैं. उस रहस्यमय रात के एक हिस्से में अचानक कई शक्लें बनने लगती हैं. घनी मूंछों वाला रोआबदार चेहरा अपनी गुस्सैल आंखों से उसकी ओर देखने लगा है. एक कर्कश आवाज आती है—"पहचानो, क्या यह तुम्हारी जोरू है?" वह चेहरा धड़रहित एक गर्दन की ओर इशारा करता है. लेकिन जवाब देने से पहले, उस गर्दन को देखते ही, बेहोश हो जाता है जगेसर. थोड़ी देर में होश लौटने पर देखता है, दारोगाजी ताबड़-तोड़ उसके चेहरे पर पानी फेंक रहे हैं. फिर भी हलक सूख गया है. शब्द जैसे उसके कंठ से चिपक गये हैं. उसका टेंटुआ हिलता है, लेकिन शब्द नहीं निकलते. उसकी आंखें सत्तो की कटी गर्दन को विस्फारित होकर देखती जा रही हैं. मांस सड़ने के कारण थोड़ी-थोड़ी बदबू निकलकर घनी हो रही है. दारोगाजी फौरन उस खोपड़ी को एक टीन के बर्तन से ढंक देते हैं.

"साला, बोलता क्यों नहीं? यह खोपड़ी तेरी बीवी की है?" जवाब में चीत्कार कर उठा है जगेसर.

"साले, हम तुम्हें मर्डर केस में जेल की हवा खिलवा देंगे. फांसी लग जायेगी. . तूने पुलिस में अब तक रपट क्यों नहीं लिखवायी?" जवाब में रोता है जगेसर . . . जार-बेजार . . . तभी दारोगा का चेहरा मेंढक की तरह उछलकर, रात के अंधेरे में अचानक खो गया है. सब कुछ शांत लगता है, ऊपर से. लेकिन जगेसर के अंदर ही हर क्षण एक तूफान-सी विवशता घुटती रहती है. उसे क्या पता सत्तो, कैसे, कब और कहां गयी? उसे तो यह भी याद नहीं है कि आज तक उसने किसी का भी कुछ बिगाड़ा हो.

वह अचानक गायब हुई थी जरूर. लेकिन उसने सोचा था शायद नाराज होकर मायके गयी हो. आखिर और जाती भी कहां? उसे यह भी विश्वास था कि वह गोपाल के बिना रह नहीं सकती. इसलिए वह निश्चिंत हो गया था कि अब एकाध दिन के बाद गाय की तरह तड़पती हुई अपने बछड़े के पास वापस आ जायेगी. लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतने लगे थे, वह चिंतित होने लगा था. उसे पूरा विश्वास था कि वह मायके जाकर बीमार हो गयी थी और ठीक होते ही वापस आ

● राधेश्याम

जायेगी. तभी थाने से बुलावा आ गया था और वह मुखिया जी के साथ, उस कटी हुई गर्दन की शिनाख्त करने थाने पहुंच गया था. शाम होते न होते पूरा गांव थाने पर तमाशबीन की तरह जमा हो गया था. दारोगा ने तो साफ-साफ कह दिया था कि "जगेसर ने ही अपनी बीवी की हत्या करके लाश को अलग-अलग जगहों पर गाड़ दिया था. गांव के कुत्तों ने खोपड़ी तो निकाल ली, लेकिन धड़ का पता नहीं चला." लेकिन मुखिया जी के काफी समझाने-बुझाने पर वह जगेसर को छोड़ने को राजी हो गया. वह रात को थाने से छूटकर घर आया था और अपने सात वर्षीय बेटे गोपाल के साथ लगकर, पागलों की तरह रोता रहा था. उसे जेल जाने पर गोपाल के भविष्य की चिंता, बेदम कर रही थी. और फिर दारोगा ने जितनी आसानी से उसे अपराधी साबित कर दिया था, यह सोचकर उसे आज भी हैरत होती है. कहां चला गया लोगों का धर्म-ईमान? कहां है भगवान? कहां है न्याय? बस जगेसर सोते, उठते, बैठते इन्हीं सवालों से जूझता रहता है. इसके उत्तर भी उसी रात की तरह रहस्यमय लगते हैं. कभी लगता है सब बकवास है. जिसकी गांठ में ताकत है, सब कुछ उसी का है. दारोगा, न्याय, भगवान सब कुछ उसी का है.

यह तो मुखिया जी थे जिन्होंने अपनी जमानत पर उसे छुड़ा लिया, वर्ना दारोगा ने तो उसे फंसाने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी. उन्हीं की वजह से उसे सत्तो की खोपड़ी भी वापस मिली थी. आखिर उसकी मुक्ति का सवाल था. अगर धर्म के अनुसार उसका क्रिया-कर्म नहीं होता तो प्राणी की आत्मा को कभी शांति नहीं मिलती. जिस सत्तो ने जीते-जी, जगेसर की जिंदगी को शांति से भर दिया था. क्या जगेसर उसकी आत्मा की शांति के लिए भी कुछ नहीं करता? यद्यपि मुखिया जी ने साफ कह दिया था, "श्राद्ध के अवसर पर ज्यादा खर्च करने की जरूरत नहीं. यह तो अकाल मृत्यु है. सारा काम सादगी से होना चाहिए."

"सत्तो के बाद ले-देकर मेरे पास गोपाल है और एक गाभिन भैंस है. अब इसे देखते हुए आप लोग जैसा समझें. . ." कहकर बिलखने लगा था जगेसर. फिर भी न-न करते कुछ न कुछ श्राद्ध में खर्च हो ही गये थे. कमी लकड़ियों की हुई क्योंकि खोपड़ी की चिता सजाने के लिए ज्यादा लकड़ियों का इंतजाम नहीं करना पड़ा. लेकिन श्राद्ध श्राद्ध होता है. प्राणी की आत्मा को शांति मिले, इसके लिए हाथ की मुट्ठी कसने से काम नहीं चलता.

उस रात जब सत्तो की चिता जलाकर लौटा था जगेसर तो मुखिया जी ने एकांत में बुलाकर पुलिसवाला मामला रफा-दफा कर लेने की सलाह दी थी. "कुछ ले देकर इस झंझट से निकल जाओ जगेसर, वर्ना कब तक मुकदमा लड़ते रहोगे? फिर तुम्हारा बेटा अभी छोटा है. तुम्हारी भैंस है, कौन संभालेगा इसे?" और उन्होंने सौ-सौ के पांच नोट उसकी मुट्ठी में रख दिये थे—"यह दारोगा जी के लिए है, श्राद्ध के लिए कल सुबह दे जाऊंगा."

इतना सब कुछ याद है जगेसर को. किसी का गुण या अवगुण भुलाये नहीं भूलता. मुखिया जी ने मुसीबत की घड़ी में जिस अपनेपन के साथ इसके जख्मों पर पट्टी रखी है, ताउम्र जगेसर नहीं भूल सकता और एक वह दारोगा है जिसने मरने के बाद भी पवित्र आत्मा पर ऐसे ऐसे लांछन लगाये, जिसे सुनकर शरीफ आदमी का सिर शर्म से झुक जाता है. उसने रुपये भी लिये और सत्तो को जाने क्या-क्या कहा.

"कौन यार था उसका? वह किस-किससे मुंह काला करवाती थी? वह चाल-चलन की छिनाल तो नहीं थी?" जैसे जाने कितने प्रश्न दारोगा ने पूछे थे. वह सुन-सुनकर अपमान की भट्ठी में जलकर राख होता रहा. सत्तो की जान भी गयी और मरने के बाद बदनामी हुई, सो अलग. लेकिन क्या किया जा सकता है? जिसकी जितनी तकदीर में लिखी है, मिलती है. होनहार को कोई टाल नहीं सकता.

अब किसकी ओर उंगली उठाये, जगेसर? और फिर अचानक सत्तो तो रूपवती नहीं हो गयी? शादी के दस-बारह साल तक किसी ने उसकी परछाईं तक नहीं देखी. रूप देखने का प्रश्न ही कहां उठता है. गोपाल जब पैदा हुआ, तब कहीं इधर-उधर, टोला-पड़ोस में निकलने लगी थी. ऐसा भी नहीं कि गांव में किसी से झगड़ा तकरार हुआ हो. तो फिर यह अचानक क्या हो गया? वह पकड़े भी तो किसे पकड़े? सब तो यहां शरीफ लोग ही हैं गांव में. वह ज्यों-ज्यों अपने ख्याली दुश्मन को पकड़ने की कोशिश करता, उलझता जाता है. इसी क्रम में जाने कितनी अफवाहें सुनने को मिलीं. जितने मुंह उतनी बातें. किस-किसका मुंह पकड़े आदमी और किस-किसको सफाई देता चले? कह लो भैया, एक दिन स्वयं कह-कहकर थक जाओगे. अगर कुत्तों ने जमीन खोदकर खोपड़ी नहीं निकाली होती, तो हत्या की खबर आज तक नहीं मिलती. लोग बस यही समझते रहे कि सत्तो अपने आदमी और बच्चे को छोड़कर किसी के साथ भाग गयी. लेकिन कोई यह तो नहीं कहता कि सत्तो मुखिया के बेटे से फंसी हुई थी या मुखिया के बेटे ने ही सत्तो का अपहरण कर लिया और बलात्कार करके हत्या कर दी. इसीलिए मुखिया मामले को रफा-दफा करने की कोशिश में जगेसर को पटा रहा था. किसी ने तो यहां तक कह दिया कि 'जगेसर की बीवी का शरीर, टुकड़े-टुकड़े में विभाजित होकर मुखिया के घर में ही गड़ा हुआ है.' लेकिन नहीं चाहते हुए भी सब कुछ सुनता रहा जगेसर. और खून के घूंट पीता रहा. निश्चय ही सत्तो के पूर्व जन्म के पाप थे, जिसका फल उसे मिल गया. मरने के बाद इतनी बदनामी आज तक इस गांव में किसी की नहीं हुई. मरने के बाद लोग गुणों के कारण ही याद किये जाते हैं. लेकिन इस अभागिन सत्तो के साथ हुआ उलटा ही. जीते जी तो उसने घर को स्वर्ग बनाकर रखा, लेकिन मरने के बाद दो पुश्तों की जिंदगी नर्क बना गयी. गोपाल भी जब बड़ा होगा, लोग उसकी मां का नाम लेकर थूड़ी-थूड़ी करेंगे. वह तमाम उम्र गांव में सिर नहीं उठा सकेगा और सत्तो के छिनाल होने की मनगढ़ंत कहानियां आगे कई पीढ़ियों तक कही जाती रहेंगी. लेकिन होनी होनी है. इस पर वश किसका? यहीं पर आकर आदमी मात खा जाता है. कुछ कर लो, कुछ कह लो, भावी प्रबल है. रामायण में भी यही लिखा है. 'सुनो लषण भावी प्रबल. . .' बस. उसे पूरी चौपाई याद नहीं है. लेकिन भावी प्रबल याद रह गया.

जगेसर टहलते-टहलते नाद के पास आकर खड़ा होता है. भैंस बैठी पागुर कर रही है. लेकिन सानी ज्यों का त्यों धरा है लगता है जैसे भैंस ने मुंह तक नहीं लगाया है. उसके नाद के पास खड़ा होते ही, भैंस के शरीर में एक हरकत सी होती है. वह हुंकारी भरती हुई, खड़ी हो जाती है. अब उसे याद आ गया है कि उसने खल्ली तो मिलायी नहीं. असल में आज शाम को जब खेतों से काम करके घर लौटा तो और दिनों की अपेक्षा ज्यादा ही उजड़ापन महसूस किया. सरेशाम ही इतने जोर का सन्नाटा छा गया कि चूड़ियों की खनक सुनने के अभ्यस्त कान देर तक सत्तो की चूड़ियों की उसी खनक को तलाश करने लग गये. तभी गोपाल सपने में 'मां मां' कहता हुआ चिहुंक पड़ा था. उसी समय से जगेसर पीड़ाओं का एक बड़ा-सा पत्थर दिल में ढोता हुआ, स्वयं को बेचैन पा रहा था. इसी

लघुकथा

समझौता

■ सुरेश अवस्थी

नगर के प्रमुख व्यवसायी सेठ साहब की कार से एक्सीडेंट में एक निर्दोष व्यक्ति मारा गया. सेठ साहब ने थोड़ी चालाकी की और कार घटनास्थल पर छोड़कर भाग आये.

वह भागने को तो भाग आये थे पर उन्हें पता था कि घंटे-दो-घंटे बाद पुलिस उनका पता लगाकर उन्हें गिरफ्तार करने आ जायेगी. गिरफ्तारी के बाद जमानत और फिर मुकद्दमा! उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करें.

अब उन्हें स्वयं पर क्रोध आ रहा था कि उन्होंने अपने ड्राइवर को नौकरी से क्यों हटा दिया. अपनी लड़की की शादी के लिए वह दो हजार एडवांस ही तो मांग रहा था बस.

इसके पहले कि सेठ साहब कुछ सोच पाते, पुलिस उनके घर आ धमकी. पूछताछ के दौरान सेठ साहब ने साफ कह दिया कि कार वह नहीं उनका ड्राइवर चला रहा था. उन्होंने पुलिस से यह भी वादा कर दिया कि कल वह अपने फरार ड्राइवर का पता लगाकर न्यायालय में हाजिर कर देंगे.

पुलिस चली गयी. सेठ साहब ने अपने ड्राइवर को घर बुलाया और काफी देर तक ड्राइवर से बातें कीं.

अगले दिन ड्राइवर न्यायालय में हाजिर हो गया. उसने इस समझौते के तहत सेठ साहब से बीस हजार रुपये नगद और मुकद्दमे के खर्च की मांग की थी जिसे सेठ साहब ने बिना किसी ना-नुकुर के स्वीकार कर लिया था. □

बेचैनी के क्रम में वह सानी में खल्ली मिलाना भूल गया था. यह तो सुरेश की बहू की कृपा थी कि सत्तो के गायब होने के दिन से ही गोपाल को संभाल रही थी, वर्ना इस भैंस की तरह गोपाल भी भूखा रह जाता.

खल्ली मिलाते ही भैंस चपर-चपर करके खाने लगी है. उसे थोड़ा संतोष हुआ तो वह खटिया पर लेटकर सोने की कोशिश में लग गया. वह सब कुछ भूल जाना चाहता है. लेकिन करे क्या? सोने पर भी सपने में सत्तो की बातें सुनाई पड़ती हैं. फिर भी. . . सोना तो है ही.

वह सुबह हड़बड़ाकर उठता है. दिन तेजी से चढ़ने लगा है. उसकी नजर सबसे पहले गोपाल को देखती है. वह बेसुध सोया है. फिर भैंस की ओर देखता है. वह नाद के पास नहीं है. यह सोचकर कि 'कहीं आस-पास होगी.' दैनिक क्रियाओं से निश्चित होकर, कुछ रोटियां पकाने की तैयारी में लग जाता है. अब सत्तो तो है नहीं कि खेत पर कलेवा पहुंचाने जायेगी. फिर गोपाल भी है, जो जितना साथ निभा दे, वह बहुत है. आखिर कब तक सुरेश की बहू गोपाल को खाना खिलाती रहेगी? वह जल्दी-जल्दी रोटियां सेंककर भैंस की तलाश में निकल गया है. वह दिन चढ़ने के साथ ही, चिंतित होने लगता है. कुछ नहीं तो तीन-चार हजार की भैंस तो है ही. ऊपर से गाभिन भी है. सत्तो के श्राद्ध पर हुए खर्च और लिये गये कर्ज को चुकाने के लिए सिवाय इस भैंस के और कोई उपाय नहीं है. अगर भैंस को कुछ हो जाता है तो गांव में मुंह दिखाने लायक नहीं रहेगा, जगेसर.

खोजते-खोजते में दिन ढलने के साथ ही उसके अंदर की शक्ति ढहने लगी है. एक बार जी में आता है थाने जाकर इस बार पहले ही भैंस के गुम होने की रपट लिखवा दे. लेकिन दारोगा की शक्ल याद आते ही वह सिहर जाता है. एक-एक कर गांव के तमाम लोगों से भैंस के बारे में पूछ आया है, लेकिन कहीं पता नहीं चलता. अगर वह मुखिया जी के रुपये समय पर नहीं लौटा सका तो ब्याज गिद्ध की तरह सिर पर मंडराने लगेगा, यह सोचकर कातर होने लगा है. जैसे-जैसे शाम होने लगी है, उसके मन के भीतर अंधेरा भरने लगा है. ऐसे में उसे एक ही आधार मिलता है, जहां जाकर अपनी पीड़ा सुना सकता है. वह थक-हारकर, गोपाल को साथ लेकिन मुखिया जी यहां जाकर अपना दुखड़ा रोना चाहता है, उसके बुरे दिन आ गये हैं, यह तय है. इसमें सत्तो का कोई दोष नहीं है. उसकी किस्मत खराब है कि उसके हाथ से छिटककर भुनी हुई मछलियां भी पानी में तैरने लगी हैं. वह अपने भाग्य को कोसते हुए मुखिया के पास खड़ा होता है. वह इतना शक्तिहीन हो गया है कि नमस्कार करना भूल जाता है. मुखिया के अपनेपन ने उसके शब्द जैसे छीन लिये हों, "आओ जगेसर, अभी हम लोग तुम्हारी ही बातें कर रहे थे.". . . मुखिया जी की गर्माहट भरे शब्दों से उसकी चेतना वापस लौटी है, जैसे. वह कटे वृक्ष की तरह धराशायी हो गया है; मुखिया के पैरों पर.

"मैं तो बरबाद हो गया मुखिया जी. मेरी भैंस चोर खोलकर ले गये. . . मैं लुट गया मुखिया जी. . . भैंस. . ." उसकी आंखों से अचानक आंसू झर-झर टपकने लगे हैं. तभी एक कमरे से उसे भैंस की चिर-परिचित हुंकारी सुनायी पड़ी है. उसके कान खड़े हो गये हैं क्षण भर में ही मुखिया जी के गौशाले से, भैंस के रंभाने की जोरदार आवाज सुनाई पड़ती है. उसकी आंखों के आंसू अचानक आंखों में ही जम गये हैं. उसकी नसों में जैसे रक्त का प्रवाह थम गया है. गोपाल भैंस के खुड़ियाने की आवाज सुनकर उसकी तरफ दौड़ जाता है. जगेसर भी भाव-विह्वल हो उठता है. तभी मुखियाजी की आवाज सुनाई पड़ती है, "बात यह है जगेसर कि रात जाने कैसे तुम्हारी भैंस मेरे गौशाले में आ गयी. मैंने उसे बांध दिया. सोचा, आज न कल इसे तो यहां आना ही है." जगेसर जैसे अनसुनी करके यंत्रवत गौशाले की तरफ चलने लगा है. गौशाले में प्रवेश करते ही भैंस जैसे प्राणवंत हो उठी है, वह रंभाने लगती है. बीच-बीच में जगेसर के हाथ चाटने लगी है. वह भैंस पर हाथ फिराने लगा है.

"क्या सोच रहे हो, जगेसर? अगर तुम अभी अपनी घर-वाली के खून के जुर्म में जेल चले गये होते तो?" मुखिया ने गौशाले के बाहर से ही कहा.

जगेसर की आत्मा निचुड़ गयी है. वह अवश होकर भैंस की ओर जल पूरित नेत्रों से देखता है. . . और गोपाल का हाथ पकड़कर तेजी से गौशाले से बाहर हो गया है. भैंस को पगहा तोड़ने की कोशिश करते हुए देखकर, मुखिया ने गौशाले के कमरे का दरवाजा बंद कर दिया. भैंस करुणा से काफी जोर रंभाती है. उसकी आवाज दूर-दूर तक जाकर गुम हो जाती है. जगेसर घर आकर गांव छोड़ने की तैयारी करने लगा है.

"चलो बेटा, अब हम यहां नहीं रहेंगे. . ." उसकी आंखों में आंसू भर आये हैं.

"कहां जायेंगे?" गोपाल पूछता है.

"शहर."

"कहां है, शहर?"

"यहां से बहुत दूर. . . मैं वहां रिक्शा चलाऊंगा. और तुम बड़े होकर डाकू बनना. . . बहुत बड़ा डाकू. और मुखिया की अंतड़ियों से अपनी भैंस वापस छीन लेना." वह बुदबुदाते हुए गोपाल को जवाब देता है और गोपाल का हाथ पकड़कर बाहर चलने लगता है. सहसा गोपाल रुक जाता है और अपने बाप की ओर विश्वास पूर्वक देखकर कहता है, "तुम कहीं मत जाओ, बापू. . .मैं यहीं रहकर डाकू बनूंगा." जगेसर चौंककर उसकी ओर देखता है. गोपाल के भोले चेहरे पर, किसी वयस्क का-सा निर्णय झांक रहा है.

"हां बेटे, डाकू बनकर मुखिया को छोड़ना मत. बहुत सताया है उसने. . ." कहकर हाथ से सामान रख देता है. उसके दिमाग में गोपाल को डाकू बनाने की कोशिशों का ख्याल भरने लगा है. जगेसर को लगा है जैसे वह अपने जीवन में पहली बार सही निर्णय ले रहा है. □

● जे. के. कॉलोनी, क्लब रोड, मिठनपुरा, मुजफ्फरपुर, बिहार

नंगे लोग

सुरेंद्र मनन

कौन हैं वे लोग जो सभ्यता, मानवीयता और सद्भावना के बीच आकर आतंक का माहौल खड़ा कर देते हैं . . . ! नफे-नुकसान की इस्तेमालिया राजनीति को पर्दाफाश करती, 'उठो लच्छमीनारायण' जैसे कहानी संग्रह और 'सीढ़ी' जैसे उपन्यास के चर्चित कथाकार सुरेंद्र मनन की मार्मिक सामयिक कहानी—

मैं उन्हें काफी पीछे छोड़ आया हूं. फिर भी सरपट भाग रहा हूं. मैं नहीं, मेरा जिस्म! मैं अब भी वहीं खड़ा हूं, कई एक मजबूत हाथों की गिरफ्त में जकड़ा. आंखें फाड़े कभी अपने जलते हुए घर को देखता हूं, कभी आग की लपटों में फड़फड़ाते बाप को, जो चीखता-चिल्लाता जमीन पर लोटनियां लगा रहा है. हर तरफ कुहराम मचा है, जिसमें गडमड होते उनके वहशी चेहरे हैं, लपलपाती बरसती सलाखें और आग उगलते हाथ हैं. छाती पीटती औरतें और दहशत से गूंगे बने बच्चे हैं. . . रात का यह कौन-सा पहर है, पता नहीं. चारों तरफ धू-धू करती आग के उजाले और धुआंध में कौन किस तरफ भाग रहा है, यह भी नहीं मालूम!

जैसे एक सर्द ठंडे लबादे ने मुझे सिर से पैर तक ढांप लिया था. एकाएक, सारे शरीर की गरमी सोख ली थी. मैं तीखी गंध में लिपटा-निचुड़ता शिथिल खड़ा था, समग्र चेतना सिर्फ आंखों में समेटे, जो डिबिया पर घिसती तीली पर जमी थी. सांस जाने कहां अटक गयी थी. तीली से आग लपकते ही मेरा जिस्म आखिरी बार थरथराया और जाने कैसे उनकी पकड़ से छूटकर अंधाधुंध भाग लिया.

लेकिन भागकर जाना कहां है? खाली-नंगी सड़कें, गूंगे मकान, अंधी गलियां और हर तरफ अंधेरा! हर रास्ता जैसे मौत की गुफा. . . यह अचानक इस शहर को क्या हो गया! इतना अपरिचित और खूंखार! जैसे कि इस शहर में मैं पैदा नहीं हुआ, पल कर जवान नहीं हुआ, बस अभी-अभी किसी अज्ञात घाटी में उतरा हूं, जहां कहीं से भी मौत लपककर दबोच सकती है. . . लेकिन यह कुछ भी सोचने का मौका नहीं. तर्क या दुहाई देने का नहीं, भागने का है, जहां तक भागा जा सके. कोई भी सुरक्षित कोना-कंदरा ढूंढा जा सके. . . और मेरा जिस्म बेतहाशा भाग रहा है! गीले कपड़ों से पेट्रोल की गंध के भभके उठ रहे हैं. पगड़ी पता नहीं कहां गिरी थी. जूड़ा खुलकर बाल बिखर गये हैं. सांस संभल नहीं पा रही. . . फिर भी पैर उसी तेजी से अंधेरे की चादर को चीरते लुढ़कते जा रहे हैं, जैसे बाकी शरीर से अलग हों!

हां, यही गली ठीक रहेगी. एक ही छलांग में मैं रेलिंग फलांग जाता हूं. इससे पहले कि संभल पाऊं, आंखें फटी रह गयी हैं. हाथ पैर ढीले पड़ गये हैं. . . उनके चेहरे दिखाई नहीं देते. सिर्फ अपनी तरफ बढ़ते कदम देख रहा हूं. अब भागते हुए. . . बिल्कुल करीब. निढाल होकर मैं दीवार थाम लेता हूं. आखिर में दबोच ही लिया गया. इतनी लंबी दिशाहीन दौड़ के बाद मैं फिर उनके बीच घिरा हूं. सिर के बीचों-बीच तेज-तीखी जलन होती है, जैसे किसी जानवर ने काट खाया हो, और मेरे बिखरे-उलझे बालों की लटें भीगने लगी हैं. शरीर पर जहां-तहां दर्द की टीसें बरस रही हैं. मैं इधर-उधर लुढ़क रहा हूं और एक गहरी खामोशी में डूबता हुआ अब सिर्फ आवाजें सुन रहा हूं, तड़ाक! तड़ाक! तड़ाक! . . .

दरवाजा जोरों से पीटा जा रहा है. मैं चिहुंककर उठता हूं. कमरे में घुप्प अंधेरा है और मेरी सांसों की धां-धां. कुछ देर तक समझ नहीं पाता, आवाजें कहां से आ रही हैं. दरवाजा फिर भड़भड़ाता है. बत्ती जलाये बिना, रास्ता टटोलता हुआ मैं चिटकनी खोल देता हूं.

"जल्दी बाहर निकल आइए, वे फिर आ गये हैं."

"आखिर कौन हैं वे, जो यूं जमीन फाड़कर निकल आये हैं! मैं चिल्लाकर पूछना चाहता हूं, लेकिन लड़के धमाधम छत पर जा चढ़े हैं. बाहर लाठियां भांजने की आवाजें हैं. मोरचे संभाल लिये गये हैं. दरख्तों के पीछे आकाश भक-भक कर रहा है. सड़क पार की कालोनी से चीख-पुकार और हो-हल्ले की आवाजें उठ रही हैं. भागते कदमों की आवाजें रात के इस तीसरे पहर के सन्नाटे में गूंज रही हैं. यही आवाजें अभी तक मेरे कानों में भी बज रही थीं. अनायास मैं अपने सिर-मुंह पर हाथ फेरने लगा हूं. पगड़ी दाढ़ी सपने में उतर गयी. मैं फिर से बिना दाढ़ी-मूंछ के हूं. सिर सलामत है. कपड़ों पर पेट्रोल भी नहीं. अपने कमरे में हूं. . . फिर भी सपने की दहशत अभी तक सवार है.

सड़क के पार चीखें और तेज हो गयी हैं. लपटें अब कई जगहों से उठ रही हैं. इधर लड़के मुहाने पर मुस्तैदी से डटे हैं. विचलित होकर पैर बार-बार जगह बदल रहे हैं. बांहें फड़क रही हैं—इस इलाके में कोई दंगाई घुसने न पायेगा. बुजुर्ग सन सैंतालिस को याद करते अपने अनुभवों के आधार पर निर्देश-नसीहतें दे रहे हैं.

वही आलम! सोना-जागना एक बराबर आंखें बंद हों या खुली कोई अंतर नहीं, वह अंतर मिट गया है. इस करवट उस करवट छत पर आंखें टिकाये या बाहर खुले में. आंखों में कड़वाहट है. दो दिन से सोते हुए जागने और जागते हुए दुःस्वप्न देखने की पीड़ा भरी थकान! सोने-जागने की बीच क्षत-विक्षत कल्पना! ओछी पड़ती कल्पना! आदमी की जागती इंद्रियां जिस पर भारी पड़ रही हैं, जागते इरादों और दमित इच्छाओं के खुल-खेलने का ध्वंस लिये, जो अब अपने खालिस रूप में प्रकट हुई हैं—कई-कई परतों को उघाड़ कर! जिन्हें इतिहास के मलबे में दबाकर नकली सभ्यता का महल खड़ा किया गया, लेकिन पलक झपकते ही वे उतने ही बर्बर और जीवंत रूप में उठ खड़ी हुईं. . . सदियों का फासला पार करके शहर पर टूट पड़ीं और किसी महामारी की तरह हर तरफ फैलने लगीं. . . बाकी बचा मलबा, इमारतों के अवशेष, झोंपड़ियां, कंकाल, जलते मांस की दुर्गंध के बगूले, बिलखती औरतें, बेहाल, अधजले बच्चे, बौखलाए-बदहवास मर्द, जिनकी तादाद लगातार बढ़ती जा रही है. . .

और मैं जगजीत को इस तादाद में शामिल होने से बचाना चाहता हूं. इस महामारी की लपलपाती जीभ उस या उसके भाइयों तक पहुंच पाये इससे पहले उन्हें बांहों में दबोच लेना चाहता हूं. लेकिन दो दिन से ही उनका कुछ अता-पता नहीं. वह दिल्ली घूमने आये अपने दो छोटे भाइयों को साथ लेकर निकला था. कहां होंगे वे इस समय, कैसे होंगे!

मैं सूने कमरे में इधर-उधर घूमता हूं, जिसमें कई सालों से हम इकट्ठे रह रहे हैं. हर पल मुझे लगता है, एक मजबूत, अदृश्य हाथ जगजीत को खींच-खींचकर मुझसे अलग कर रहा है. वह अपने मकसद में कामयाब हो रहा है और मैं हथेलियां मल रहा हूं. जगजीत का चेहरा दूर होता जा रहा है. हम उस साजिश की गिरफ्त में आ चुके हैं. अब कभी मैं उससे नहीं मिल पाऊंगा. कमरे में उसकी कुछ चीजें ही बची हैं—यह पगड़ी, जिसकी मैं पूनी करवाता था. गुरु नानक की यह तस्वीर जिसके आगे वह अगरबत्ती जलाता था. केश बिठाने की यह सिलाई. . . यह उसका पटका. . .

हमलावर जा चुके हैं. सड़क पर फर्राटे से दौड़ती जीपें हैं. सायरन और हवाई फायर! लड़के मुहाने से लौट रहे हैं. खिड़कियों से औरतें झांकने लगी हैं. शोरगुल मंद पड़ गया है. एक स्त्री के बिलखने का स्वर जिसे कुचलता एक फौजी ट्रक अंधेरे में गुम हो गया है.

दुःस्वप्नों का अंत नहीं. कर्फ्यूग्रस्त इलाकों की हर गली, चौराहे पर मैं जगजीत को ढूंढता हूं. ढूंढते-ढूंढते खुद उसका रूप अख्तियार कर लेता हूं. ऐसा अपने आप हो जाता है. हर जगह वही कोलाहल और मारकाट है. जगजीत की शक्ल में मैं फिर उसी अंधी गली में हूं, जहां खुद को पिटता-कराहता छोड़ आया था. . . गली में कान-फाड़ शोर और बरसती सलाखें हैं! उनके चेहरे पहचान में नहीं आते. टप्पे खाती गेंद की तरह आंख की पकड़ से छूट-छूट जाते हैं.

अब वे धीरे-धीरे दूर हटने लगे हैं. शायद मुझे पूरी तरह बेजान समझ कर लौट रहे हैं. अचानक मेरा डर खत्म हो गया है. मैं जान गया हूं, अब कुछ देर और जिंदा बचूंगा. उस उत्कट इच्छा से मैं मुक्त हो गया हूं जो इतनी देर से मुझे दौड़ा रही थी. इन आखिरी क्षणों में सिर्फ एक जिज्ञासा मुझ पर सवार हो गयी है. मेरी मौत के बाद वे कौन हैं, जो जिंदा रहेंगे? जो हर हत्या के बाद किलकारियां भर रहे हैं. मैं जवाब जाने बिना उन्हें जाने नहीं दूंगा. मैं उन्हें पहचान कर ही मरना चाहता हूं.

"कौन हो तुम, सिर्फ इतना बता दो!" उस हालत में भी मैं एक की टांगों से लिपट जाता हूं.

"सचमुच आदमी ही हो? मुझे क्या इसीलिए मार रहे हो कि मेरे सिर पर पगड़ी है. . . मैं दाढ़ी-मूंछ नहीं कटवाता. . . तुम अपनी मानवीयता, सभ्यता, सद्भावना. . . सब कुछ सिर्फ इसलिए भूल गये हो, अलग-अलग धर्म, जाति या संप्रदाय होने पर. . ."

मैं जुनून में बोलता जा रहा हूं. बहुत से शब्द अपने-आप होंठों से फूट रहे हैं. जोश में आकर मैं जैसे चुनौतियां फेंक रहा हूं. अपनी यह हालत मुझे हास्यास्पद लगती है. मरते-मरते भी मैं इन शब्दों को दांव पर लगा रहा हूं. ठंडे और कोरे शब्द उगलता उनके सामने जैसे गिड़गिड़ा रहा हूं, जबकि साफ महसूस हो रहा है कि शब्दों के ये लोंदे खुद लाशों की तरह भारी और बेजान हैं.

इस लफ्फाजी के जवाब में अंधी गली ठहाकों से गूंज उठती है. दूर जाते चेहरे अट्टहास करते लौट पड़ते हैं. मेरी तरफ इशारे करते लोट-पोट हो रहे हैं. सभ्यता—हा हा हा! मानवीयता—ही ही ही! सद्भावना हो हो हो! . . .

वे पागलों की तरह अपने कपड़े नोच-नोच कर फेंकने लगे हैं. अब वे अलफ नंगे हैं और भूतों की तरह मेरे आसपास नाच रहे हैं. 'देखो, हम सब नंगे हैं! नेताओं की भाषा मत बोलो, आंखें खोलकर गौर से देखो, सिर से पैर तक हम नंगे हैं! अपनी दाढ़ी-मूंछ की दुहाई मत दो, हमारी कोई जात-पात नहीं, अलग दाल-भात नहीं, कोई धर्म नहीं, संप्रदाय नहीं, कबीला नहीं वसीला नहीं! इन चिंदियों से बहुत दिनों तक हम ढंके रहे हैं. अपनी औकात भूले हुए थे, हवा में झूल रहे थे. देह को जंग लगा रहे थे. गुस्सा, नफरत हवा में उड़ा रहे थे. आज हर परदे से मुक्त हैं हम. पहचानो हमें असली रूप में, हम नंगे हैं! हमारे अंदर आग धधकती है. घृणा उमड़ती है. इशारा मिलते ही हमारा पशु चिंघाड़ने लगता है. खून बोलने लगता है. हम हमेशा कगार पर खड़े रहते हैं. अपने करतब दिखाने को, अपनी भूख मिटाने को. . .

"ओफ! इतनी खूंखारता!" मेरे होंठों से अस्फुट निकलता है. और वे इस शब्द को झपट लेते हैं, जैसे मैंने उन्हें गाली दे दी हो.

सुरेंद्र मनन

"खूंखारता नहीं प्रतिहिंसा! प्रताड़ना, दमन, उत्पीड़न की पगलाई प्रतिहिंसा, जिसका निशाना कोई भी बन सकता है बेवकूफ! अभी, बंगाली, सिख, हिंदू, मुस्लिम, या फिर शिया-सुन्नी वगैरह-वगैरह! हम हर ऐसे मौके की राह देखेंगे, जब हमारी लगामें खुली छोड़ी जायें, हर बार इसे कौन से नये ढंग का नाम देना है, यह तुम्हारे नफे-नुकसान की राजनीति है, कलाबाजी है. तुम्हारी नहीं, तुम्हारे सरपरस्तों की. तुम तो चारे की तरह हमारे आगे फेंके जाओगे. कभी हिंदू, कभी सिख, कभी मुसलमान बनाकर. . ."

"लेकिन प्रतिहिंसा का निशाना तुम मुझे बना रहे हो, जबकि तुम्हारा दुश्मन मैं नहीं, कोई और है!" मैं चीखकर कहता हूं, लेकिन आवाज उनके अट्टहासों में खो गयी है. मुझ पर बेहोशी छाने लगती है. वे गली से निकल गये हैं और मैं आंखें मूंदे चित्त पड़ा हूं.

अचानक उस सन्नाटे में जगह-जगह से शोर उठने लगा है या शायद मुझे ही महसूस हो रहा है. आंखें खोलने पर लगता है, हंगामा बहुत करीब हो रहा है. शरीर को घसीटता हुआ मैं गली के मुहाने तक आ जाता हूं. जो दृश्य सामने है उसे देख हतबुद्धि हो जाता हूं.

खुली-चौड़ी सड़कों पर नंगे लोगों की भीड़ है. चिल्लाती, अर्राती वह आगे बढ़ी आ रही है. दनदनाते फुत्कारते नंगे लोगों से सड़कें भरी पड़ी हैं. फिर भी वे लगातार जाने कहां-कहां से उतरते चले आ रहे हैं. सड़कों के किनारे आकाश को छूती भव्य और आलीशान इमारतें हैं—एक से एक, आकर्षक शैली और डिजाइन की. देखते-देखते नियोन बत्तियों से जगमगाती दुकानों के शटर खुल गये हैं. दुकानें सारा सामान धड़ाधड़ बाहर उगलने लगी हैं. करीने से सजी एक-एक चीज अब मलबे की शक्ल में सड़क पर बिखर रही है. अब इधर-उधर लपकते हाथ हैं, चीखें हैं. नंगे लोगों की किलकारियां हैं. . . जूतों के उछलते डिब्बे हैं और हर कोई अपने नाप के जूते छांट रहा है. पैंटों, कमीजों का माप लिया जा रहा है. हाथापाई में सिर फूट रहे हैं. एक नंगे के माथे से खून बह-बहकर कपड़ों पर गिर रहा है. बगल में साड़ियों का बंडल दबाये वह भीड़ की गिरफ्त से छूट पाने में कामयाब हो गया है. उसके चेहरे पर विजय का उल्लास है और आंखों में रिसते लहू को पोंछता वह सरपट भागता है कि सिर पर टी.वी. सेट उठा कर ले जाते एक दूसरे नंगे से टकरा गया है. दोनों उछलकर वहीं गिर पड़े हैं. भीड़ से अलग, हाथ में दूध की बोतल थामे एक नंगा उन्हें देखकर पागलों की तरह हंस रहा है. वह हंसता जा रहा है और दूध गटकता जा रहा है. अब उसने चौथी बोतल क्रेट से खींच ली है और उसे घूंटता हुआ उस हिस्से की ओर बढ़ गया है, जहां सड़क पर काजू-किशमिश की बोरियां बिखरी हैं और गिरते-पड़ते कुछ नंगे इस दुर्लभ चीज को मुट्ठियां भर-भर कर मुंह में ठूंस रहे हैं, जेबों में भर रहे हैं. . .

अब हर जगह आग की लपटें हैं. भीड़ आगे बढ़ती है. आगे-आगे एक दैत्य नाच रहा है. बेतहाशा हाथ-पैर पटकता, मुंह से आग फुंकारता. उसके काले-मोटे होंठों से बराबर एक चिंघाड़ निकल रही है. दैत्य नाच रहा है और फटे स्वर में गा रहा है. जहां-जहां उसके पैर पड़ते हैं, जमीन धसक-धसक जाती है. उसकी आवाज चार दिशाओं से प्रतिध्वनित हो रही है. . . मैं आजाद देश का नागरिक हूं. सदियों से भूखा हूं, सालों से प्यासा हूं. तुम्हारी सभ्यता मेरी बर्बरता को नहीं ढांप सकती, तुम्हारी विकास योजनाएं मेरी भूख नहीं छिपा सकतीं. मैं आदमी को जिंदा जला सकता हूं. खून गटागट पचा सकता हूं. मैं जिधर से गुजरूंगा, लाशें गिरेंगी, जिधर उंगली उठाऊंगा, आग फुंकारेगी. मेरी एक सांस हवा में जहर घोल देती है और मेरे रक्तबीज पनपने लगते हैं. देखते-देखते इंसान मेरी शक्ल में बदलने लगते हैं. देखो, और सुनो मुझे, मैं जिंदा हूं और रहूंगा क्योंकि अपनी जिंदगी के लिए तुम्हारे शासकों को बार-बार मेरी जरूरत पड़ती है, कि मैं आऊं और अपना तांडव दिखाऊं. हाहाकार मचाकर तुम्हें नचाऊं और उन्हें हर खतरे से बचाऊं. एकता और अखंडता का परचम हाथ में थमाऊं. उनकी ओर बढ़ती हर भीड़ से टकराहू. ऐसा आतंक फैलाऊं कि वे आतंक कायम कर सकें. ऐसी मार-काट मचाऊं कि वे मारकाट कर सकें. ऐसा जहर बिछाऊं, जिसमें वे फल-फूल सकें. . . इसीलिए मैं अब तक जिंदा हूं. इसीलिए मुझे जिंदा रखा जायेगा. . .

खिड़की पर धूप चमक रही है, हर रोज की तरह. मैं आंखें खोले पड़ा हूं. उठना चाहता हूं लेकिन उस दैत्य का चित्र आंखों के आगे से नहीं हटा पा रहा. वह जैसे मेरी छाती पर सवार उसी तरह नाच रहा है. उसके मोटे-काले होंठ अभी भी कानों में बुदबुदा रहे हैं. माइक्रोफोन की तरह. वे पंक्तियां और शब्द हू-ब-हू सुन रहा हूं.

बाहर लड़के धूप सेंक रहे हैं. रतजगा काट कर अलसा रहे हैं. पार्क में कुछ अधेड़ बैठे बहस कर रहे हैं. दूध के डिपो पर औरतों-आदमियों का भारी जमघट है. सड़क पार की कालोनी शांत है. तभी मैं चौंकता हूं. चेहरा खिड़की की सलाखों से सटा देता हूं. सुस्त चाल से एक युवक सड़क पर चला आ रहा है. . . अब वह नजर की पकड़ में है. जगजीत ही है. मैं बाहर भागने को होता हूं कि हठात फिर गौर से देखने लगता हूं. हां वही है.

दरवाजा खोलकर मैं उससे लिपट जाता हूं. कोई कुछ नहीं बोलता. हमारी आंखें पल भर को ही मिलती हैं. वह सीधा दीवार पर टंगे शीशे के सामने जाकर खड़ा हो गया है और मैं उसका सफाचट चेहरा घूरने लगा हूं, बिना दाढ़ी-मूंछ के, सिर के बाल उलटे काढ़े हुए, माथे पर पगड़ी का निशान—दोनों कानों तक. घुटनों से पैंट फटी है और कुहनियों पर सूख चुके खून के चकत्ते. एकाएक वह मेरी तरफ घूमता है. उसके जर्द पड़ गये चेहरे में हल्की-सी हरकत होती है. सूखे होंठ थोड़ा-सा हिलते हैं.

"अब ठीक है न!" वह अपने सिर के छोटे-छोटे बालों की तरफ इशारा करके बेहद ठंडी आवाज में यूं कहता है जैसे मुझसे अपने जीने की शर्त पूछ रहा हो. "मैं अकेला ही बचा हूं, उन दोनों को उन्होंने. . ." आगे वह बोल नहीं पाता. उसकी आंखों से धुआं-सा उठने लगा है.

मैं सन्न खड़ा हूं. कुछ सूझ नहीं रहा. मेरी आंखों के आगे वही दैत्य नाचने लगा है. बेतहाशा हाथ-पैर पटकता, मेरे कानों में चीखने लगा है.

"तुमने उस दैत्य को देखा है, और सुना है?" अचानक मैं जगजीत से पूछता हूं.

● बी-20, एम. सी. डी. फ्लैट्स, श्रीनिवासपुरी, नयी दिल्ली-110065

—चलते-चलते—

कहानियों के विचार मेज पर बैठकर नहीं मिलते, लोगों के बीच जाकर मिलते हैं. लोगों के पास जाकर मैं उनके साथ एकरस हो जाता हूं. उनकी आशाएं-निराशाएं, अनुभूतियां मेरी अपनी हो जाती हैं. फिर मैं उन्हें एक चित्रकार की भांति कागज पर अंकित करने का प्रयास करता हूं.

● हेमिंग्वे

बूढ़ा काकुन फिर उदास है

प्रियंवद

वे लोग, जो किन्हीं कारणों से समाज की मुख्य धारा से कट जाते हैं, खासकर अंगभंग या किन्हीं शारीरिक अक्षमताओं के कारण! किस तरह का जीवन जीते हैं वे लोग! प्यार और स्नेह की अंतःसलिला किस तरह से फिर भी बहती है उनकी जिंदगी में? शिल्प कौशल के लिए विख्यात युवा कथाकार का सूक्ष्म विश्लेषण—

बूढ़े काकुन की उदासी के बारे में जानने से पहले जरूरी है कि थोड़ा-बहुत खुद उसके बारे में भी जान लिया जाये और खासतौर से यह कि उसका सबसे प्यारा गीत था, 'अहा जीवन, अहा जीवन' जिसे वह हमेशा अपने कटे हुए मोटे होंठों से गुनगुनाया करता था. वैसे बूढ़ा काकुन हमेशा इतनी ही पंक्ति गाता था, पर ऐसा नहीं था कि गीत भी सिर्फ इतना ही था, इसके आगे की पंक्तियां थीं—

"हजारों बांह इसकी
हजारों पांव इसके
समझ पाया कहां मन. . .

बूढ़ा काकुन गीत की ये पूरी पंक्तियां केवल तभी गाता था, जब वह बहुत उदास होता था और ऐसी उदासी उसके पूरे पिछले जीवन में सिर्फ दो बार आयी थी. एक तो जब उसकी मोटी बीवी उसे छोड़कर भाग गयी थी और दूसरी तब, जब वह पहली बार गूदड़ बटोरने के काम पर निकला था.

बूढ़ा काकुन सड़े हुए पोले पपीते की तरह सत्तर के करीब था और कूड़ों के ढेर से गूदड़ बटोरता था. उसका चेचक के दागोंवाला चेहरा झब्बे जैसे बड़े-बड़े कंधे तक बिखरे बालों से ढका रहता. भूरी आंखें गड्ढों के अंदर धंसी रहतीं और गालों की हड्डियां मैल की मोटी परतों को फोड़कर भाले की तरह तनी रहतीं. एक गंदा-सा लंबा दांत उसके होठों के ऊपर निकला था और माथे पर भाड़ जैसा एक बड़ा मस्सा था.

छाती तक फैली दाढ़ी और थोड़ा-सा कूबड़. बूढ़ा काकुन जब चलता तो लगता जैसे लंगड़ा रहा हो. पहले बायां पैर जमीन पर पूरी ताकत से रखता और फिर कराहता हुआ दायें पैर को थोड़ा लंबा करके आगे तक खींचता. उसके पास एक काला बंद गले का कोट था, जिसमें कुछ रंगीन कपड़ों के पैबंद लगे थे. कपड़ों के ये टुकड़े भी उसने कूड़ों के ढेर से ही उठाकर इकट्ठा किये थे. कोट में बटन की जगह लकड़ी के टुकड़े बंधे थे. हालांकि बूढ़े काकुन को कभी बटन बंद करने की जरूरत नहीं पड़ती थी, लेकिन तब भी उसका विश्वास था कि कोट में बटन अवश्य होने चाहिए. इसी गूदड़ में एक बार जाड़े के दिनों में उसे साबुन का एक टुकड़ा मिल गया था. और उस दिन धूप में बैठकर उसने खुद को और कोट को अच्छी तरह धोया था. कूड़े के ढेर से उठाये एक शीशे के कड़े और टूटे कंघे से उसने बाल भी बनाये थे, जिसके लिए थोड़ा-सा तेल उसने कोढ़ी भिखारी से मांग लिया था. उस दिन बूढ़ा काकुन एक धोये हुए ताजे कद्दू की तरह चमक रहा था.

उस कोट के नीचे एक कत्थई पैंट थी, जिसमें बटन थे और जिन्हें वह जरूर बंद रखता था. पांवों में प्लास्टिक के सफेद जूते रहते थे. हाथों में एक लाठी जिससे वह कुत्तों को भगाता था और कूड़े के ढेर पर पड़ी फालतू गंदगी हटाता था. उसके पूरे व्यक्तित्व में सबसे खास चीज थी टाट का वह बड़ा झोला, जिसमें वह गूदड़ बटोरा करता था और जो हर वक्त उसके बायें कंधे से लटकता हुआ दायें हाथ के नीचे से निकलता था. इस बोरे में हमेशा कुछ न कुछ भरा रहता था.

बूढ़ा काकुन भिखारियों के टोले में रहता था. जेल की ऊंची मजबूत दीवार के पीछे नदी का घाट था. पहले यहां बहुत रौनक रहती थी, लेकिन जब से नदी की धारा दूर चली गयी थी, घाट वीरान हो गया था. नाव वाले पंडे, होटल वाले परचूनिए सब अपना ठिकाना दूसरी जगह बना चुके थे. बस रह गये थे तो वहां के भिखारी. वहीं घाट के पास बीस-पच्चीस झोपड़ों में उनका एक गोल रहता था. चुराकर लायी हुई ईंटों और टाट के टुकड़ों से बने हुए छोटे-छोटे दड़बेनुमा घरों में ठुसे हुए. सुबह होती तो सब भिखारी अपनी-अपनी राह पर निकल पड़ते. कोढ़ी गाना गाता हुआ आंसू बहाता. लंगड़ा छोटी-सी चार बियरिंग डालकर बनायी हुई एक-दो फुटे पटरे की गाड़ी पर, अंधे दंपत्ति एक-दूसरे का हाथ पकड़कर अपने दो साल के बच्चे को कंधे पर लटकाये हुए. . और बूढ़ी अपना खाली तसला बजाती हुई गालियां बकती. एक-दूसरे से हो-हो करते शोर मचाते. इन्हीं के साथ निकलता बूढ़ा काकुन भी. अपने कंधे पर वही टाट का बोरा डाले कूड़ों के ढेर खंगाल-खंगालकर अपने मतलब की चीजें ढूंढने के लिए. . . लाठी ठकठकाता, आसपास के घरों से कोई ठक-ठक सुनकर आवाज मारता, "क्यों बूढ़े कुबड़े. . चल दिये क्या ?"

"हां निकम्मे सुअर. ." जवाब में बूढ़ा काकुन हंसता हुआ चिल्लाता, "रोशनी जेल की खिड़की तक आ गयी है. . . उठो और अपना थूथन साफ करके निकल पड़ो."

बूढ़े काकुन को जमादारों से पहले कूड़ों के ढेर पर पहुंचना होता, क्योंकि अगर देर हो जाती तो जमादार खुद या तो काम की चीजें उठा लेते या सब इकट्ठा करके गाड़ी में भरकर बड़े और गंदे कूड़े के ढेर पर डाल देते. वहां बूढ़े काकुन को भी घिन आती. बहुत ज्यादा गंदगी में बहुत ज्यादा मेहनत करनी पड़ती. बूढ़ा काकुन इसी बात से बचने के लिए जल्दी निकल पड़ता था. दोपहर तक बूढ़ा काकुन गिद्ध जैसी आंखें लिये कूड़े के ढेर पर मंडराता और झुककर चीजें उठाकर अपने बोरे में डालता रहता. लोहा. . .टीन. . .दफ्ती. . टाट. . .पुराने कपड़े. . . प्लास्टिक. . . कागज. . .कांच. . . टूटे बर्तन वगैरह. दोपहर तक सब ढेर निपट जाते और बूढ़ा काकुन बोरा लेकर घर वापस आ जाता. उस वक्त पूरा टोला सन्नाटे में हुआ होता. कोई भी भिखारी शाम के पहले नहीं लौटता था. बूढ़ा काकुन तब झोला रखकर आराम से पैर फैलाता, अंगड़ाई लेता और फिर कुछ खाने को बनाता. खाकर वह अपने बोरे को पलटता और इकट्ठा की हुई चीजों के अलग-अलग ढेर बनाता. इन चीजों को फिर अलग-अलग बांधकर वह बड़े कबाड़ी के यहां दे आता. बड़ा कबाड़ी नाप-तौल परखकर बूढ़े काकुन को पैसे दे देता.

कभी-कभी बूढ़ा काकुन वहीं रुककर देर रात तक बड़े कबाड़ी का और काम भी कर देता. उसके पैसे उसे अलग से मिलते. इस तरह सब मिलाकर बूढ़े काकुन को इतने पैसे मिल जाते कि वह अपनी आंतों को आराम से सुला देता. कभी कूड़े के ढेर पर कोई 'बड़ा माल' हाथ लग जाता तो उसे कुछ ज्यादा पैसे मिल जाते और तब वह या तो दारू पी लेता या खाने के लिए कोई बढ़िया मसालेदार सब्जी बनाता. जिस दिन ऐसा होता, उस दिन भिखारी उसके घर से उठनेवाली मसाले की महक को हैरत और ईर्ष्या से सूंघते और आपस में कहते, "आज कुबड़े ने कोई हाथ मारा है." कोढ़ी भिखारी अपना कोढ़ खुजाते हुए सबसे ज्यादा चिल्लाता, "एक टुकड़ा मुझे भी मेरे दोस्त. . . ओ बूढ़े."

कुछ चीजें ऐसी भी होतीं, जिन्हें बूढ़ा काकुन बेचता नहीं बल्कि अपनी गृहस्थी में सजाकर रख लेता. कोई खुशबूदार साबुन का टुकड़ा . . . रंगीन कांच. . . कोई पिटारी या रेशमी रिबन. . .माला. . .चूड़ी के टुकड़े. . . टूटा खिलौना वगैरह. जिस दिन बूढ़ा काकुन फुरसत में होता, इन रंग-बिरंगी चीजों को अपने चारों ओर सजाता और ताली बजाकर, गर्दन हिलाकर खुश होकर गाता, "अहा जीवन, अहा जीवन."

वह एक बड़ी कालोनी थी और उसी में वह सफेद घर भी था, जहां बूढ़ा काकुन यह सब बटोरता था. इस कालोनी के घरों से रोज सुबह कूड़ा बाहर फेंका जाता. बूढ़ा काकुन इन घरों के कूड़े से इस हद तक परिचित हो गया था कि देखकर बता सकता था कि यह किसके घर का है. बल्कि वह इस कूड़े की भाषा इतनी अच्छी तरह पढ़ने लगा था कि हर घर की नितांत व्यक्तिगत बातें उसे मालूम थीं. उन घरों के रहने का स्तर. . . उनके प्रिय फल या सब्जी या शराब. उनके घरों में पढ़े जानेवाले अखबार, उसकी उंगलियों की पोरों पर टंगे थे. उसको मालूम था कि पीले रंग वाले घर में एक बीमार आदमी है, क्योंकि उसके घर के कूड़े में रोज लौकी के छिलके, मूंग की दाल और दवाओं के रैपर मिलते थे. लंबी जालीवाले घर की औरत के बाल गुच्छे-गुच्छे भर टूटते हैं, यह बूढ़ा काकुन कूड़े के ढेर में पड़े बालों से जान लेता था. गोल घर में हर शनिवार की रात मेहमान आते हैं, क्योंकि हर इतवार की सुबह वहां ज्यादा सब्जियों के छिलके, बचे हुए भुने मांस के टुकड़े और शराब की कोई टूटी बोतल मिलती थी. उखड़े प्लास्टरवाले मकान के मियां-बीवी एक-दूसरे को 'बहुत प्यार' करते हैं, क्योंकि बूढ़े काकुन को रोज सुबह सफेद लिसलिसाता हुआ रबर का टुकड़ा मिलता था. (यह बात दूसरी थी कि एक दिन सुबह बूढ़े काकुन ने उस घर के छह आदमी को अपने सामने सामान रखकर स्टेशन जाते और फिर तीन दिन बाद आते देखा

था, परंतु उन तीन दिनों में भी रबर के टुकड़े मिलना बंद नहीं हुआ था. बूढ़ा काकुन यहां तक जानता था कि किस घर की औरत के महीने के कौन से तीन दिन कठिन होते हैं. कपड़े के ऐसे टुकड़ों को वह मुंह बनाकर लकड़ी से दूर हटा देता था.

उसी कालोनी के घरों में सफेद रंग का छोटा-सा वह घर भी था. बूढ़ा काकुन जब उस घर में पहुंचता तो उसे रोज वहां एक नन्ही-सी बच्ची स्कूल के कपड़े पहने बस का इंतजार करती मिलती. उसके स्कूल जाने का और बूढ़े काकुन के पहुंचने का समय एक ही था. बूढ़े काकुन को देखते ही वह झट से अंदर जाती और लौटकर एक टोकरी पलटकर डाल देती. यह उसका खुद का कूड़ा होता. शायद उसकी मां ने उसे एक साफ बच्ची की तरह रहना सिखाया था, इसलिए वह अपने बनाये हुए कूड़ों को टोकरी में इकट्ठा करके खुद ही फेंकती. बूढ़े काकुन को उसके अंदर पेंसिल के छिलके. . .कागजों पर रंगीन पेंसिल से बनाये टेढ़े-मेढ़े चित्र. . . टूटी रंगदार पेंसिल. . .गुड़िया का कोई हिस्सा या प्लास्टिक और रबड़ के खिलौनों के टुकड़े मिलते. बूढ़े काकुन को उन टुकड़ों में उस बच्ची के कच्चे दूध की महक आती. वह इन चीजों को बहुत यत्न से संभालकर रखता था. जितनी देर बूढ़ा काकुन झुककर चीजें उठाता, वह हैरत और भय से उसे देखा करती. उसे समझ में नहीं आता कि जिन चीजों को वह फेंक देती है, उसे यह बूढ़ा क्यों उठाता है. बूढ़ा काकुन भी बीच-बीच में बच्ची को प्यार से देख लेता.

उसकी सफेद मुलायम जिल्द. . .पवित्र अबोधता और चमकती अखरोट-सी आंखें. ताजी सुबह की कोख से जन्मी हो जैसे. उस बूढ़े काकुन का तब मन करता कि सिर्फ एक बार वह इस बच्ची को छू ले या बच्ची मुस्करा दे. इस नियत से जब भी वह खुद मुस्कराता, वह बच्ची सहमकर दो कदम पीछे हट जाती. बूढ़ा काकुन तब एक गहरी सांस लेकर झोले को कंधे पर लटकाता और उदास-सा होकर आगे चल देता. यह उदासी बूढ़े काकुन के साथ कुछ कदम तक चलती. उसे तब अपनी बीवी पर गुस्सा आता कि वह क्यों उसे छोड़कर भाग गयी वरना बूढ़े काकुन की भी ऐसी ही एक बेटी होती. फिर बूढ़ा काकुन अपनी बीवी को दो-चार गालियां देता और अगले कूड़े के ढेर पर झुककर गाने लगता, "अहा जीवन. . . अहा जीवन."

इस तरह बूढ़ा काकुन जी रहा था.

मनुष्य के नाम पर एक निर्वासित और बहिष्कृत जीवन, जो मनुष्यों के एक वर्ग के द्वारा फेंके हुए टुकड़ों के ढेर पर खड़ा था. यही कूड़े के ढेर उसके वे पुल थे, जिनसे होकर वह समाज तक पहुंचता था. यही उसकी सामाजिक सीमाएं थीं और यही उसका अस्तित्वबोध. यही उसके पूरे बीते हुए जीवन का अर्थ थे और यही उसका शेष जीवन भी.

बूढ़ा काकुन छोटी बच्ची को लेकर इधर कुछ दिनों से अधिक संवेदनशील हो गया था. इन दिनों वह कोशिश करता था कि थोड़ा साफ और कम भयानक दिखे. कूड़े के ढेर में इन दिनों वह टूटा ब्लेड या चाकू तलाशता जिससे वह अपनी दाढ़ी थोड़ी-सी छील ले. बड़े कबाड़ी से मिले पैसे भी जोड़ रहा था कि जिससे वह ढंग का कोई साफ-सुथरा कपड़ा पहन सके और उसकी वीभत्सता और बदबू थोड़ी कम हो जाये. उसने कुछ कहानियां और हाथों के कुछ करतब भी सोच रखे थे कि अगर कभी वह बच्ची मुस्कराती तो वह उसको सब सुनायेगा या दिखायेगा. बूढ़ा काकुन इन दिनों जब-तब उठता और उस डिब्बे को खोलकर देखा करता जिसमें उसकी फेंकी हुई चीजें रखता था. नींद में भी कभी-कभी छटपटाकर उठ जाता और फिर आंखें फाड़कर चारों ओर इस तरह घूरता जैसे कोई उसके पास से अभी-अभी चला गया हो.

उस दिन हल्के बादल थे. हवा तेज थी. बूढ़ा काकुन उठा तो उसे लगा, बारिश हो सकती है. जल्दी से उसने जूते पहने, लाठी ली, झोला लटकाया और तेज कदमों से कालोनी की तरफ चल दिया.

● प्रियंवद

टोले में सब सो रहे थे. सड़कों पर भी सन्नाटा था. उसी तरह तेज चलता हुआ बूढ़ा काकुन सीधे सफेद घर पर आया. दूर से ही उसने देख लिया कि बच्ची वहां नहीं खड़ी थी. उसने सोचा कि बादलों की वजह से वह समय का सही अंदाजा नहीं लगा पाया और जल्दी आ गया है. एक सांस लेकर बूढ़ा काकुन वहीं मकान के सामने सड़क पर बैठ गया. उसकी आंखें बार-बार घर के दरवाजे तक जातीं और फिर सड़क के उस हिस्से पर, जहां से बस आती थी. कुछ देर में बस आ गयी, पर बच्ची नहीं निकली. बस चली गयी, पर वह फिर भी नहीं आयी. बूढ़ा काकुन हैरान और परेशान हो गया. ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था. तभी अचानक दरवाजा खुला. एक औरत निकली और उसी टोकरी में कूड़ा फेंककर चली गयी.

उसके पीछे एक आदमी था. दोनों को देखकर लगता था जैसे वे रात भर सोये नहीं हैं. यह शायद उसके मां-बाप थे. बूढ़े काकुन ने सोचा और तेजी से उठकर कूड़े की तरफ लपका जैसे उस कूड़े के ढेर पर लिखा हो कि वह बच्ची कहां है. बूढ़े काकुन की उंगलियां तलाशती रहीं, पर उसे वह कुछ न मिला. न रंगीन पेंसिलों के टुकड़े, न कागज पर बने चित्र. अचानक उसकी उंगलियां एक झटके से रुक गयीं. दवाओं की शीशी और रैपर पड़े थे. बूढ़ा काकुन एकदम से सन्न रह गया. यह जबान कभी धोखा नहीं देती. तो बीमार है वह बच्ची. बूढ़े काकुन को लगा जैसे कोई उसकी देह से खून खींच रहा हो. टांगों पर जोर नहीं रह गया. वहीं कूड़े के ढेर पर बैठ गया. शायद यह गलत हो. कोई और बीमार हो. 'हे ईश्वर. . .' सिर उठाकर बुदबुदाया वह. उसकी आंखें अंदर घर पर लगी थीं. कोई घर से निकलता तो शायद वह हिम्मत करके पूछ भी लेता या शायद बच्ची के हंसने की या बोलने की आवाज ही आ जाती, पर कुछ नहीं हुआ. 'हे ईश्वर. . .' बूढ़ा काकुन एक बार फिर बुदबुदाया और लाठी का सहारा लेकर लंगड़ाता हुआ आगे बढ़ गया.

उस दिन बूढ़े काकुन का काम में मन नहीं लगा. जल्दी ही वह लौट गया. बड़े कबाड़ी के पास भी नहीं गया. अगले दिन भी ऐसा ही हुआ. फिर ऐसा ही होता रहा. बूढ़ा काकुन अब घने अंधेरे ही उस घर के सामने बैठ जाता और वह औरत जैसे ही कूड़ा फेंकती, वह दौड़कर उसे खंगालता. कोई रंगीन पेंसिल या कागज का टुकड़ा नहीं. बस दवाइयों के रैपर और शीशियां बढ़ रही थीं. कभी-कभी खून और थूक से सनी रुई और कपड़े का टुकड़ा भी दिख जाता, जैसे किसी ने सारी रात खांसी के साथ खून भी उलटा हो, ताजा मुलायम खून.

धीरे-धीरे बूढ़ा काकुन अब फिर गंदा रहने लगा. कुछ सूख भी गया था वह. बड़ा कबाड़ी अब अगर कभी ज्यादा पैसे देता तो वह शराब या मिठाई नहीं खरीदता, बल्कि टोले के किसी भिखारी के बच्चे को दे देता. कालोनी में उसके चक्कर बढ़ गये थे. दिन में तीन-चार बार तक आता वह. उस घर के सामने घंटों बैठा रहता और बीच-बीच में मुंह उठाकर बुदबुदाता, 'हे ईश्वर. . . हे ईश्वर.'

लघुकथा

कमीशन

▣ श्रीनिवास जोशी

राज्य में भ्रष्टाचार निरोधक एक्ट लागू हो गया. ओमप्रकाश ठेकेदार पूर्ववत 'कमीशन' के पांच सौ रुपये लेकर अधीक्षण अभियंता के पास पहुंचा.

अधीक्षण अभियंता ने ओमप्रकाश और उसके हाथ में लिफाफे को देखकर कहा, "तुम्हें मालूम नहीं कि राज्य में भ्रष्टाचार निरोधक एक्ट लागू हो गया है?"

"जी, मालूम है. . .पर कमीशन तो. . ."

ठेकेदार के शब्द अभी मुंह में ही थे कि अभियंता ने कहा, "जरूरत पड़ने पर वकील की फीस भी इसी से निकालनी पड़ेगी, कमीशन की परसेंटेज अब बढ़ गयी है." □

● पंचवटी, मराड़ी, शिमला-171001 (हिमाचल प्रदेश)

बूढ़ा काकुन बड़े कबाड़ी के यहां से लौट रहा था, धीरे-धीरे लुढ़कता हुआ. बड़े कबाड़ी ने आज उसे बहुत दुत्कारा था कि वह अब ढंग की चीजें नहीं लाता और उतनी ज्यादा भी नहीं, जितनी पहले लाता था, बल्कि वहां का काम करने में भी अब उसका मन नहीं लगता है. न जाने कहां खोया हुआ मुर्दे-सा हाथ चलाता है वह. उसने अपने गंजे सिर पर हाथ फेरते हुए बूढ़े काकुन को आखिरी चेतावनी दे दी थी कि या तो वह ढंग से काम करे या फिर वह अपने ऊपर के काम के लिए दूसरे आदमी का इंतजाम कर लेगा.

यही सब सोचता हुआ लौट रहा था बूढ़ा काकुन. आहिस्ता-आहिस्ता पैरों को घसीटता हुआ अपने दड़बे की तरफ. रोशनी के पीले फाहे उसी भिखारी के कोढ़ की तरह अंधेरी सड़कों पर कहीं-कहीं चिपके थे. सन्नाटे में तेज हवा बूढ़े काकुन की नंगी और उभरी हड्डियों को छेदकर नसों में दहाड़ रही थी. बूढ़े काकुन ने सिर को दो-तीन झटके दिये. बड़े कबाड़ी की बातों को जैसे निकालकर फेंक देना चाहता था वह. बस, एक फूल. . . नन्हा. . . सफेद उसकी आंखों के आगे रहा. पंखुरी-पंखुरी खिला हुआ. मुस्कराया बूढ़ा काकुन. खाना बनाकर और खाकर फिर उस घर का एक चक्कर लगायेगा वह. . . उसने सोचा और लाठी खटकाते हुए अपने कदम तेज कर दिये.

तभी अचानक एक गाड़ी रुकी. दो लोग उतरे और उन्होंने झपटकर उसे दबोच लिया.

"कौन है, कौन. . ." बूढ़ा काकुन हड़बड़ाया.

"एक और भिखारी," एक आवाज उछली. वे उसे घसीटते हुए गाड़ी तक ले आये. बूढ़ा काकुन समझ गया.

"पर मैं तो गूदड़ बटोरता हूं." वह मिनमिनाया, "मैं भिखारी नहीं हूं. . . देख लो चलकर." उसने अपना लंगड़ा पैर जमीन पर जमाने की कोशिश की.

"थाने में ही देखेंगे अब." एक भर्राती हुई आवाज ने बूढ़े काकुन के आम की गुठली ऐसे सूखे चूतड़ों पर एक ठोकर मारी और वह गाड़ी में घुस गया. गाड़ी में पहले से कुछ लोग ठुंसे थे. बूढ़ा काकुन उन्हीं के ऊपर गिर पड़ा. गाड़ी चल दी.

थाने पहुंचकर सबको उतारा गया और एक कोठरी में ढकेलकर ठूंस दिया गया. भिखारियों जैसे कुछ लोग वहां पहले से ही बैठे थे. . . कुछ फर्श पर पसरे थे. बूढ़ा काकुन भी लंगड़ाता हुआ उनके बीच में दुबक गया. सीखचों के बाहर चांदनी का एक टुकड़ा गलियारे में गिर रहा था. . . नंगा और ठंडा. . . बूढ़े काकुन ने उदास आंखों से देखा. उसे लगा जैसे किसी ने उसे अचानक अपने लोगों से खींचकर एक अलग टापू में डाल दिया हो. अंतहीन एकांत और आतंक भरे अकेलेपन में. एक गहरी निराशा और मायूसी में डूब गया वह. ठंडी सहमी आंखों से देखा उसने. चांदनी का एक टुकड़ा धीरे-धीरे बड़ा होता जा रहा था. सफेद. . . मुलायम. . . उसी बच्ची की तरह. एक परिंदा उस टुकड़े में फुदक रहा था. . . पंख फड़फड़ाता. . . नहा रहा हो जैसे. 'आह काश'. . . बूढ़ा काकुन बुदबुदाया. . . वह भी एक परिंदा होता. . . कितनी आसानी से सीखचों से निकलकर सीधे उस बच्ची के पास पहुंच जाता. उसके पूरे बदन को अपनी चोंच से चूमता. वह तब डरती नहीं, भागती भी नहीं, बल्कि खुश होकर खिलखिलाती. बूढ़ा काकुन तो वहीं उसके माथे पर बैठा रहता. अचानक बूढ़े काकुन का मन बिलख गया, बच्ची के लिए.

"आह मेरी बच्ची. . . बस एक बार. . ." वह बड़बड़ाया. फिर छटपटाकर उठा और सीखचे पर आ गया.

"कब तक बंद रखोगे हमें." पूरी ताकत से वह चिल्लाया. सीखचे में उसका मुंह अड़ा था. उसके होंठों से लार बह रही थी. बाहर खड़े सिपाही ने सीखचे के अंदर हाथ डालकर ढकेल दिया उसे.

"चुप बे कुबड़े. . .जब बड़े दरोगा आयेंगे, तब फैसला होगा."

"कब आयेंगे वह?"

"तीन दिन बाद."

"तो क्या. . .तीन दिनों तक. . ."

"हां बूढ़े कुबड़े. . ."

बूढ़ा काकुन धम्म से वहीं फर्श पर बैठ गया. तीन दिन वह यहीं बंद रहेगा. तीन दिन यानी. . . एक युग. बूढ़े काकुन का सिर लटककर छाती पर आ गया, जैसे उसके बदन की जान निकल गयी हो. दीवार से लगकर सड़े आलू के बोरे की तरह लुढ़क गया वह, बुदबुदाता हुआ, "अहा जीवन. . . अहा जीवन."

तीन दिन बाद बड़ा दरोगा आया. उसने एक-एक भिखारी को बुलाया सामने. बूढ़े काकुन को भी बुलाया. बूढ़ा काकुन इन तीन दिनों में बेहद बूढ़ा हो गया था. लुढ़कता हुआ वह दरोगा के पास पहुंचा और उसके पैरों पर गिर पड़ा.

"मैं भीख नहीं मांगता. . . मुझे छोड़ दो. . . सिर्फ एक बार. . ."

"तुम तो गूदड़ बटोरते हो?" दरोगा ने उसे उठाया.

"हां. . .हां." बूढ़े काकुन की आंखें चमकने लगीं, "आप जानते हैं न. . . हे ईश्वर."

"हां, मैंने देखा है तुम्हें."

"फिर. . . फिर तो छोड़ देंगे मुझे?"

"हां. . . तुम जा सकते हो. . ." दरोगा मुस्कराया.

बूढ़ा काकुन हांफते हुए पागल कुत्ते की तरह बाहर निकला और लंगड़ाता हुआ पूरी ताकत से कालोनी की तरफ भागा.

कुहरे में डूबा हल्का-हल्का अंधेरा उतर रहा था, रात के आने की भूमिका में, पेड़ तोतों के शोर से भरे थे. हांफता हुआ बूढ़ा काकुन कालोनी में घुसा. दूर से ही देखा उसने. सफेद घर के आगे कुछ ढेर पड़ा था. अंधेरे के कारण बहुत साफ नहीं था. पागलों की तरह बुदबुदाते हुए झपटकर वह कूड़े पर गिर पड़ा. उसकी अभ्यस्त उंगलियां उसको नोचने लगीं. अचानक एक ठंडी और ठोस चीज से टकरायी वह. उसने अपने हाथ में उठाकर देखा उसे. बर्फ के छोटे से टुकड़े पर एक फूल चिपका था. पास में बच्चे के गीले कपड़े, बर्फ की सिल्ली के कुछ टुकड़े और कुछ फूल पड़े थे.

एक लंबी सांस लेकर हांफते हुए बूढ़ा काकुन धम्म से वहीं दीवार के सहारे बैठ गया. गर्दन झुकी थी. आंसू और लार दाढ़ी में गिर रहे थे.

अंधेरे में एक बुदबुदाहट सांप की तरह उछली. बूढ़ा काकुन गा रहा था; गीत की पूरी पंक्तियां. . . जीवन में तीसरी बार.

बूढ़ा काकुन फिर उदास था. □

● 15/269, सिविल लाइंस, कानपुर-208001 (उत्तर प्रदेश)

पहाड़

नर्मदेश्वर

संघर्षरत जीवन के साथ विशेष सहानुभूति रखने वाले नर्मदेश्वर बिहार के उन युवा कथाकारों में से हैं जो कहानी-लेखन के साथ-साथ 'अब' पत्रिका से भी गंभीरता से जुड़े हैं. प्रस्तुत है सर्वहारा जीवन की मार्मिक दास्तान—

एक हाथ से सींकचा पकड़े और दूसरे से बच्चे को छाती से चिपकाये फुलिया उतरते लोगों का इंतजार करती रही. जितने उतावले चढ़ने वाले, उनसे अधिक तत्पर उतरने वाले. जितने यात्री, उनसे अधिक सामान. टीन-कनस्तर, बोरे-बिस्तर, अटैची-होल्डाल, गठरी-झोले, सिगरेट-सलाई, थरमस-सुराही, किताबें-अखबार, फावड़ा-कुदाल यानी जरूरत की सारी चीजें. जैसा यात्री, वैसा सामान. सबसे अधिक सामान लेकर वे चलते हैं तो हल्का बोझ भी नहीं उठा सकते. गेट पर खड़े बाबू को देखकर फुलिया को हंसी आ गई. वह कुली को पुकारे जा रहा है और पूरा रास्ता जाम करके रख दिया है. इस तरह तो गाड़ी खुल जायेगी और वह यहीं छूट जायेगी. बहुत मुश्किल से हफ्ते भर की छुट्टी मिली है. साल भर में यही तो एक छुट्टी मिलती है गांव जाने की.

फुलिया ने चढ़ने के लिए जोर लगाया. उतरने वाले लगे चिल्लाने. सींकचा अब छूटा, तब छूटा. दुबारा जोर लगाया तो बक्से वाले बाबू ने बच्चे की पीठ ठेलते हुए नहीं चढ़ने दिया. पायदान से पैर नीचे आ गया. धक्का देने की ताकत है और बक्सा नहीं उतार सकते. छि: लानत है ऐसे कमजोर लोगों पर. किसी तरह फुलिया भीतर आ गयी. चढ़ तो गयी पर अपनी स्थिति देखकर वह झेंप गयी. उसका एक स्तन कुरती से बाहर आ गया था. कुरती ठीक करते हुए वह शौचालय से सटकर खड़ी हो गयी. सूखे पेशाब की बू आ रही थी. उसने सोचा, कहीं खड़ा होने की जगह मिल जाये. पूरा रास्ता जाम था. आगे बढ़ना बहुत मुश्किल था. किसी तरह सामानों के बीच पैर रखती वह आगे बढ़ी और आकर दो अकेली सीटों के बीच खड़ी हो गयी. उसने आस-पास देखा और फटी साड़ी के आंचल से धूल झाड़कर वह दोनों सीटों के बीच बैठ गयी. फिर फुलिया को थोड़ा आगे खिसकना पड़ा. रास्ते में बैठी है तो थोड़ी तकलीफ तो उठानी ही पड़ेगी. हर वक्त सावधान होकर बैठना होगा. आते-जाते लोगों को रास्ता देना होगा. फिर भी वह खुश थी. फर्श पर ही सही, बैठने की जगह मिल गई थी.

गाड़ी खुली तो हवा का एक झोंका आया. बड़ा अच्छा लगा. उसका बच्चा खेलने लगा था. अब भी बहुत से लोग व्यवस्थित नहीं हो पाये थे. कोई अपने सामानों के लिए जगह बना रहा था. कोई बैठे यात्रियों से थोड़ा खिसक जाने का आग्रह कर रहा था. फुलिया आस-पास बैठे लोगों का जायजा लेने लगी. रास्ते में कुछ आदिवासी औरतें बेतरतीब बैठी

थी. उनके साथ कुछ मर्द भी थे. अधिकांश खड़े थे. एक दंपत्ति भीड़ से बेखबर अपने में मशगूल था. जरूर ये लोग काम की तलाश में जा रहे होंगे. इनके साथ बैठने में फुलिया ने आत्मीयता महसूस की. उसकी इच्छा हुई कि आदिवासी औरतों से पूछे कि वे कहां जा रही हैं. ये भी किसी पत्थर-खदान में काम करने जा रही होंगी! काम की तलाश में अपना घर छोड़ कर लोग कहां-से-कहां चले जाते हैं.

फुलिया को वे दिन याद आये जब उसका पति अन्य मजदूरों के साथ गांव छोड़ आया था. लगातार दो-तीन साल सड़क में खूब काम मिला. उन दिनों उसका पति सड़क के रास्ते में पड़ने वाली चट्टानों को तोड़ता था. एक काम का मजा मिल जाये तो दूसरा ठीक नहीं लगता. सड़क का काम पूरा होते ही पत्थरकट मजदूर बेकार हो गये थे. आस-पास कहीं काम नहीं था. संयोग से एक ठेकेदार ने गांव से सटे पूरब का पहाड़ पत्थर तुड़वाने के लिये पट्टे पर लिया भी तो गांव वाले विरोध में खड़े हो गये. गांव वाले किसी भी कीमत पर पहाड़ तोड़े जाने के पक्ष में नहीं थे. पहाड़ उनके लिये गांव का रक्षक देवता था. बाप-दादाओं ने भी उसकी पूजा की थी. उनका हर धार्मिक अनुष्ठान बूढ़े पहाड़ की पूजा से शुरू होता था. बूढ़े पहाड़ की छाती पर घन-हथौड़ा चले, गांव वालों को यह मंजूर नहीं था. खुद फुलिया का ससुर भी नहीं चाहता था कि पहाड़ तोड़ा जाये. वह घंटों पहाड़ की शक्ति का बखान करता. उससे संबंधित तरह-तरह की कहानियां सुनाता. बताता कि किस तरह अंधेरी रातों में एक चमचमाती रोशनी पहाड़ के सीने से बाहर निकलती है और रात भर भूले-भटके मवेशियों को रास्ता दिखाती और सुरक्षित घर पहुंचाती है. उसका पति अपने पिता की इन दकियानूसी बातों पर बिल्कुल विश्वास नहीं करता था. दोनों खूब झगड़ते थे. पिता पुत्र के लिए पहाड़ से प्रार्थना करता. पुत्र पिता की नासमझी पर हंसता और उसके समर्थकों का मजाक उड़ाता. लेकिन पिता और उसके समर्थक अधिक थे और पत्थरकट मजदूर मुट्ठी भर. हार कर उन्हें गांव छोड़ना पड़ा. वे ठेकेदार साहब के साथ हो लिये थे.

फुलिया को सब कुछ याद है. नयी-नयी शादी हुई थी उनकी, उसके पति ने खदान से सटे अपना बांस का किला बनाया था. अपनी झोंपड़ी को वह किला कहता था. फुलिया ने उसे बहुत लगन से सजाया था. कितना चाहते थे दोनों एक दूसरे को. उसका पति भी तो बाकी मजदूरों से अलग था. सबसे खतरनाक काम उसी के जिम्मे था. वह पत्थर में हूल मारता, उसमें बारूद भरता और बत्ती जलाकर विस्फोट का इंतजाम करता. नीम के नीचे पत्थर तोड़ती फुलिया उसे पहाड़ के ऊपर फुर्ती से छलांग लगाते देखती और देखती रह जाती. कितना दिलेर और हंसमुख था उसका पति. उन दिनों यह बच्चा पैदा नहीं हुआ था. दोनों जन काम करते और शाम को वापस अपने किले में लौटते. फुलिया चूल्हा जलाती, आटा सानती और रोटी पकाती. उसका पति पास बैठा बातें करता और चूल्हे की लकड़ी से खेलते रहता. आंच उसके चेहरे पर पड़ती और फुलिया उसे एकटक देखती.

आटा, नमक, चावल, दाल, आलू सब कुछ ठेकेदार साहब की दुकान से मिल जाता. हफ्ता बंटता तो फुलिया राशन लाती और कुछ रुपये बचा भी लेती. हफ्ते भर की जरूरी चीजें एक दिन खरीदती और कभी फिजूल खर्च नहीं करती. पेट में एक नन्हीं-सी जान कुलबुलाती और वह भविष्य के सपनों में खो जाती. फटी साड़ियों को जोड़कर वह लेवा-चपेता और छोटे-छोटे गद्दे बनाती. टीन का बक्सा भरता जाता. दिन करीब आते गये. जिस दिन वह दर्द से छटपटा रही थी, उसका पति कितना परेशान था. दौड़कर उसने पड़ोस की काकी को बुलाया था. काकी ने सब कुछ संभाल लिया था.

एक दिन वह बारूद की बत्ती जला रहा था. आग जलाकर भूल गया होगा. ध्यान नहीं रहा और वह टूटती चट्टान के नीचे आ गया. फुलिया की जिंदगी चट्टान से भी भारी हो गयी थी. लेकिन बच्चे की मुस्कान उसे ताकत देती थी. बच्चा अब बड़ा हो रहा था. बस थोड़ा और बड़ा हो जाये. फिर कौन-सी ऐसी मुसीबत है जिसे वे नहीं काट सकते, जब तक पहाड़ हैं तब तक उसकी जिंदगी में कोई निराशा नहीं है. पहाड़ और पत्थर उसके दाना-पानी हैं. क्या नहीं कर सकते वे इन पहाड़ों के जरिये? वे पत्थर काटेंगे. पत्थरों से सड़कें बनेंगी, इमारतें खड़ी होंगी. बच्चा चट्टानें तोड़ेगा, वह उन्हें उठायेगी.

सामने की दोनों लंबी सीटों पर कहीं कोई जगह नहीं थी. ऊपर भी दोनों तरफ सामान लदा था. एक तरफ दो बोरे रखे थे. बोरों पर एक बारह-पंद्रह साल का लड़का सोने की लगातार कोशिश कर रहा था. वैसे वह सोना नहीं चाह रहा था. वह सीधा बैठना चाहता था. लेकिन बोरों पर बैठकर सर सीधा रख पाना संभव नहीं था. बोरे ऊंचे थे और छत नीची. कभी वह सर झुकाकर नीचे झांकता था, कभी खिड़की से बाहर देखने की कोशिश करता.

नीचे दायें दो पुरुष बैठे थे और किनारे में दो अधेड़ स्त्रियां थीं. स्त्रियों की पीठ के पीछे एक लड़की सोयी थी. दुबली-पतली. उसका चेहरा पीला और उदास दीखता था. उसके होंठों पर राख की परत थी. लड़की जब ऊपर के लड़के को देखकर मुस्कराती तो लगता राख की परत टूट कर झड़ गयी हो. लड़की के सोने से बैठे लोगों को कोई तकलीफ नहीं थी. सभी अपने थे.

उनके ठीक सामने लंबे-चौड़े सेठजी थे. बगल में उनकी मोटी-ताजी पत्नी थीं. पालथी मारे. सेठानी की बगल में पनबट्टा था. पनबट्टा उन्हें नौकर से अपने को अलग करने में मदद देता था. आखिर वे नौकर के साथ सटकर कैसे बैठ सकती थीं? संभ्रांत लोग छोटे लोगों से एक दूरी हमेशा बरकरार रखते हैं. सेठानी पान चबाती और गीता प्रेस की कोई किताब पलटती रहती. उनका नौकर हरदम डोलची और सुराही एक किये रहता. उसके पैर के पास पीकदान था. सेठानी कब थूकेंगी, उसे पता रहता. सेठ जी हरदम कुछ न कुछ खाते रहते. सेठानी की डोलची में खाने की चीजें पर्याप्त मात्रा में थीं. फिर भी फेरी वालों से खरीद कर खाना सेठजी को ज्यादा पसंद था. उनका नौकर फेरीवालों से खाने वाली चीजें लेकर पह.. चखता, स्वाद बताता और सहमति देता; तब जाकर सेठजी खाते. खाते और पढ़ते रहते. फुलिया को पत्थर खदान के ठेकेदार का कुत्ता याद आता. ठेकेदार भी खाने से पहले अपने कुत्ते को खिलाता था. छोटे जीवों से खाद्य-अखाद्य की जांच करके खाना बुद्धिमानी है. बड़े लोग बुद्धिमान होते हैं. इनकी जान अधिक कीमती होती है. इसलिये कि ये दूसरों की जान की कीमत अदा कर सकते हैं.

सेठजी ने पढ़ते-पढ़ते अचानक अपनी किताब बंद की, "बेकार किताब है. एकदम फालतू. किसी शैतान ने लिखी है. धर्म का मजाक उड़ाया है बदमाश ने. चालाकी से किताब का नाम 'वैष्णव की फिसलन' रख दिया है. सोचा था, किसी वैष्णव की जीवनी होगी. न जाने क्या हो गया है हमारे लेखकों को. तुलसी, मीरा और चैतन्य अब नहीं पैदा होते. आज के लेखक सिर्फ अमीर-गरीब की बात करते हैं."

तभी एक बड़ा-सा तरबूज लिये एक बुढ़िया आयी. जगह नहीं पाकर उसने तरबूज को सीट के नीचे रख दिया और खुद फर्श पर धसक गयी.

एक अखबार वाले सज्जन गेट के रास्ते में अटके थे. उनके साथ पूरा सामान था. गोद में बच्ची को संभाले उनकी बीवी अपना सामान छोड़कर आगे बढ़ आयी. पीछे बड़ा लड़का था. सात-आठ साल का होगा. अखबार वाले सज्जन की बीवी खूबसूरत थी. लोग साफ-सुथरी औरत के अभिजात्य से थोड़ा सहमे लग रहे थे. खासकर बड़े घर की महिलाओं के लिए लोग जगह बना भी देते हैं. सेठानी ने भजनमाला से अपना सर ऊपर उठाया और मुस्काते हुए खूबसूरत महिला का स्वागत किया. सेठानी का नौकर फिसलकर किनारे चला गया. भद्र महिला शर्म का अभिनय करती हुई झम्म से बैठ गयी और अपनी पतली अंगुलियों से माथे का पसीना पोंछने लगी. उसका लड़का बिस्किट के लिए जिद करने लगा. मां डोलची से बिस्किट का पाकिट निकाल रही थी. लड़का थरमस का ढक्कन खोलने लगा. वह जानता था कि मां गब्बर सिंह वाला बिस्किट नहीं लायी है. लड़का पानी पीने लगा. वह नाराज था कि पत्रिका दिखाने के बावजूद मां ने गब्बर सिंह का मनपसंद बिस्किट नहीं खरीदा है.

अखबार वाले सज्जन की बीवी के पावों में खूबसूरत चप्पल थे. कभी-कभार वह अपने पैर चप्पल से बाहर निकाल लेती थी. फुलिया का बच्चा एकटक उसके चप्पलों को देख रहा था. उसने मां के पास ऐसी चीज कभी नहीं देखी है. कितने खूबसूरत दीखते हैं. खिलौनों की तरह. टहटह लाल.

ताजे रसभरे संतरे... रुपये में चार. संतरे वाले को देखकर अखबार वाले का लड़का मां के पास चला आया. वह मां से संतरे के लिए जिद करने लगा. भद्र महिला ने पर्स खोला और संतरे खरीदे. छीलकर बच्चे को थमा दिया. बच्ची के नन्हें हाथों में भी उसने दो फांकें थमा दीं ताकि कुछ देर फुर्सत मिले.

"मम्मी, पेड़ कैसे दौड़ते हैं?" बाहर पेड़ दौड़ रहे थे. मम्मी सोच रही थी कि जड़ को पेड़ का पैर कह सकते हैं या नहीं. निर्णय पर नहीं आ रही थी. इसलिए चुप था. लेकिन बच्चे के पास बहुत सवाल थे, "पहाड़ कब आयेगा, मम्मी?"

"क्यों दोनों तरफ पहाड़ ही तो है. नहीं दीखते?"

"सभी पहाड़ पत्थर के ही होते हैं क्या मम्मी?"

"हां, कोई-कोई नमक और संगमरमर के भी होते हैं."

"पहाड़ बर्फ का भी होता है. जैसे हिमालय. गंगा हिमालय से निकलती है. पहाड़ पर पेड़ कैसे उगते हैं, मम्मी? पत्थर पर, नमक पर, बर्फ पर पेड़!"

"पहाड़ पर मिट्टी-पानी भी होता है. झरने भी होते हैं. संतरे खाओ, माथा खाना हो तो पापा के पास चले जाओ." लड़का रूठ गया और संतरे की फांक मसलकर मम्मी की साड़ी में पोंछने लगा. मम्मी झुंझला उठी. लड़का भाग गया और कुछ दूर जाकर ताली बजाने लगा. अखबार वाले सज्जन ने उसे गेट की तरफ बुला लिया.

अगला स्टेशन जंक्शन था. गाड़ी रुकी तो लोग नाश्ते-पानी के लिए नीचे उतरने लगे. फुलिया के पास वाली सीट पर बैठा धूपचश्मे वाला बाबू रूमाल से अपनी जगह रोककर नीचे उतर गया. पास ही समोसे तथा पूड़ियों की दूकान थी. आदिवासी मजदूर मिट्टी की प्यालियों से चाय पीकर जल्दी-जल्दी गाड़ी में सवार हो गये. फुलिया एक आदिवासी औरत के साथ बातों में मशगूल थी. एकाएक उसने देखा, फर्श पर पेशाब बहते हुए उसके करीब आ गया है. पानी भी हो सकता है. नहीं हटने पर साड़ी भीग जायेगी. उसने फर्श पर से अखबार का टुकड़ा उठाया. भद्र महिला ने खाना खाकर फेंक दिया था. अखबार से पेशाब पोंछकर फुलिया ने उसे बाहर फेंक दिया.

गाड़ी खुली तो धूपचश्मे वाला बाबू आकर अपनी सीट पर बैठ गया. सेठजी अपने नौकर के लिए परेशान थे. पानी लाने गया था. छूट तो नहीं गया. उसके बिना बहुत दिक्कत होगी. सेठानी अपना पीकदान खोज रही थी, जिसे बुढ़िया ने तरबूज के साथ अनजाने में भीतर ठेल दिया था. ऊपर बैठा लड़का पीकदान का पता जानता था. लेकिन सेठानी की परेशानी में उसे मजा आ रहा था. अखबार वाले सज्जन रास्ते में होल्डाल पर बैठे थे. अखबार देख रहे थे. उनका लड़का पहाड़ घूमने के लिए जिद कर रहा था.

"अच्छे लड़के पहाड़ पर नहीं चढ़ते बेटे. चढ़ते हैं तो जैक की तरह अपना सर फोड़ लेते हैं." पिता ने लड़के को समझाना चाहा और उससे 'जैक और जिल' वाली कविता सुनाने को कहा.

"थरमस में पानी लाने भी नहीं, पापा?" लड़का संतुष्ट नहीं था.

तभी गाड़ी में अंधेरा छा गया. दिन में भी ऐसा अंधेरा कि हाथ को हाथ नहीं सूझे. अखबार वाले सज्जन का लड़का डर के मारे पापा से चिपक गया था. फुलिया ने अंधेरे में अपने बच्चे को छूकर देखा. बच्चा शांत बैठा था. मां की छाया में वह अंधेरे में भी निश्चिंत था.

सुरंग से बाहर आते ही गाड़ी में पहले की तरह उजाला हो गया. अखबार वाले सज्जन का लड़का डर के मारे अब भी सिकुड़ा था. फुलिया अपने बच्चे को देख रही थी. उसके चेहरे पर चमक थी और आंखों में उत्सुकता.

"गाड़ी पहाड़ के पेट में कैसे घुस गयी थी, माई?" बच्चे की उत्सुक आंखें फुलिया को देख रही थीं.

"गाड़ी सुरंग में घुसी थी पगले."

"गाड़ी सुरंग में नहीं, पहाड़ में घुसी थी. मैंने अच्छी तरह देखा है."

"हां, हां, पहाड़ में ही तो सुरंग होती है."

"सुरंग कौन बनाता है माई?"

"तुम्हारे बापू जैसे मजदूर." फुलिया ने बच्चे की आंखों में झांका.

"मुझे बापू कब मिलेगा माई? मैं भी सुरंग बनाऊंगा. बापू हूल मारेगा, मैं बारूद की बत्ती जलाऊंगा."

गाड़ी लगातार दौड़ रही थी. दूर किसी बड़ी निर्माण योजना के चिन्ह दिख रहे थे. विरान, ट्रैक्टर, ट्रक, बालू-पत्थर के ढेर, लोहा-लक्कड़, बाबू-मजदूर. फुलिया की आंखों में चमक थी. कोई स्टेशन आ रहा था. आदिवासी औरत-मर्द अपना सामान सहेजने लगे. गाड़ी स्टेशन पर रुकी. जल्दी-जल्दी अपने सामानों के साथ नीचे उतरने लगे. फुलिया के पास बैठी दो-तीन औरतें भीड़ के चलते अपना सामान लेकर नहीं उतर सकीं. उन्होंने आगे जाने वाले यात्रियों से सामान थमा देने की प्रार्थना की और गेट की ओर दौड़ गयी.

गाड़ी रुकी और देखते-देखते खुल भी गयी. औरतें खिड़की के साथ दौड़ने लगीं. लंबे बालों वाला एक लड़का उनकी मजबूरी देखकर हंस रहा था और मस्ती में सिगरेट फूंक रहा था. धूप चश्मे वाले बाबू निर्विकार बैठे थे. फुलिया जल्दी-जल्दी उनके सामान पकड़ाने लगी और सभी सामान बारी-बारी से थमा दिये. तभी उसके बच्चे ने फर्श पर छूट गयी छेनी उठायी और अपना हाथ खिड़की से बाहर निकाला. पहाड़ों के इर्द-गिर्द एक नन्हा-सा हाथ लहराने लगा.

● द्वारा 'अब' 74 ई, गोरक्षिणी पथ, सासाराम-821115 (बिहार)

बस चालक : दो प्रसंग

■ बलबीर त्यागी

"सा'ब मेरी बस स्टाप पर खड़ी सवारी उतार रही थी. साइकिल वाले ने सामने से आकर टक्कर मारी है."

"मैं क्या कर सकता हूं. तुम्हारे खिलाफ मुकदमा दर्ज होगा. तुम्हारे पास हैवी व्हीकल है. कानूनन हैवी व्हीकल वाला कसूरवार होता है."

"सा'ब वह सामने वाली दीवार भी तो हैवी है. अगर मैं उसमें टक्कर मारूं तो क्या दीवार के मालिक का चलान करेंगे?" चालक ने दलील दी. मगर इंसपेक्टर साहब ने एक न सुनी और कानून के फतवे के तहत-चालक का धारा-279-337 में चालान कर दिया.

सड़क पर दौड़ती बस के फुटबोर्ड पर सर्कस के करतब दिखाते हुए एक कालेजियट छोकरा सड़क पर टपक कर तड़पने लगा.

बस के पीछे आती दूसरी बस के चालक ने उसे तड़पते देखा. उसके भीतर बैठी इंसानियत जाग गयी. वह बस खाली करा कर लड़के को तत्काल अस्पताल ले गया जहां उसे मृत घोषित कर दिया गया.

पुलिस आयी. तफतीश हुई. चालक ने चिरौरी की, "सा'ब यह मेरी बस से नहीं, आगे वाली दूसरी बस से गिरा है."

"तो क्या हुआ, गिरा तो बस से है! तेरी से न सही, तेरे साथी से सही." और उसे धारा 304 ए के तहत गिरफ्तार कर लिया गया. मेमना एक बार फिर खाया गया. □

शोक

पुन्नी सिंह

शोक की दरी बिहारी जी के मकान के बाहरी बरामदे में बिछाई गयी थी. एक कोने में मेज पर रेडियो रखा गया था और दूसरे में टी. वी. एक कोने में इंदिरा जी का फोटो सजाकर रखा गया था और महात्मा जी का फोटो सामने की दीवाल पर लटका दिया गया था. उसी फोटो के ठीक नीचे बिहारी जी एक मसनद के सहारे बैठे थे. सुरेश की अम्मा और मीरा भी वहीं बैठना चाहती थीं. लेकिन नहीं. बिहारी जी ने साफ मना कर दिया. शोक है तो क्या मर्जादा का ध्यान नहीं रखा जायेगा ? बाहर के तमाम तरह के लोग आयेंगे, उनके सामने घर की औरतों को बिठा के लोक-हंसाई नहीं कराई जायेगी. बगल के कमरे में दरी बिछा दी गयी. सुरेश की अम्मा, मीरा और सुरेश की बहू वहीं बैठी थी. बिहारी जी अच्छी तरह समझते हैं और सुरेश को भी कई बार समझा चुके हैं कि इसी शहर में उनकी कई पीढ़ियां मर-खप गयी हैं. लेकिन किसी पीढ़ी के किसी आदमी को न तो कभी भरपेट भोजन मिला था, न तन ढकने को लत्ता और न रहने को फूस का छप्पर. सब जानते हैं कि उनके दादा ने राजा के महल में बेगार करते-करते दम तोड़ा था. उनके पूज्य पिताजी किराये का तांगा चलाते थे और तांगे से ही सड़क पर गिरकर एक दिन मर गये थे. बिहारी जी ने खुद भी तीस साल की उम्र तक बाप की विरासत में मिला तांगा जोता है. तांगा जोतते-जोतते उनकी धोती के नीचे कुछ ठेटें ऐसी पड़ गयी हैं कि लाख तेल की मालिश करने पर भी उनकी चमड़ी मुलायम नहीं हो पाती. अक्सर धोती के नीचे खुजलाते-खुजलाते उनका हाथ उन ठेटों पर पहुंच जाता है और अपनी संपन्नता का सारा इतिहास याद आने लगता है. वे अच्छी तरह जानते हैं कि गत पंद्रह-बीस साल में उन्हें जो वैभव प्राप्त हुआ है उसमें चमत्कार कुछ भी नहीं है. किसी अज्ञात शक्ति का हाथ भी नहीं है. इन्हीं महान नेताओं के नाम का कमाल है और उन्हीं का आशीर्वाद है. लेकिन उनका सुरेश इस सीधी-सांची बात को नहीं समझ पाता. इसका बिहारी जी को काफी क्लेश रहता है.

कुछ समय तक बिहारी जी अकेले शोक की दरी पर बैठे-बैठे जम्हाई लेते रहे. लेकिन कोई नहीं आया. वे उठकर अंदर गये. खास-खास लोगों को एक बार फिर फोन किया और दरी पर आकर फिर बैठ गये. उन्हें शक होने लगा कि सुंदरसिंह के बहकावे में आकर कहीं लोग पार्टी आफिस में दरी बिछाकर तो नहीं बैठ गये. अभी शाम को सुंदरसिंह और उनके बीच में काफी बहस हुई थी. सुंदरसिंह पार्टी के अभी नये-नये सचिव बने हैं. इससे पहले मजदूर संघ में काम करते थे सो उतनी ही अकल है. उनका तर्क था कि प्रधानमंत्री के शोक की दरी पार्टी कार्यालय में बिछाई जाय. लेकिन उन्हें कहां मालूम है कि बिहारी जी के तर्क को तेज तलवार से भी नहीं काटा जा सकता. वे अपनी पैनी तर्कबुद्धि और मीठे स्वभाव के कारण ही आज पार्टी के सिरमौर बने हैं.

उनका पार्टी के भीतर और बाहर सम्मानपूर्ण आतंक है, आतंकपूर्ण सम्मान नहीं है. उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसी बात है कि भरी सभा में वे लोगों पर जादू जैसा फेंक देते हैं. रेशमी खादी के कीमती कुर्ते की चौड़ी बांह में हाथ डालकर जब वे अपने रोयें सहलाने लगते हैं और सुनहरी फ्रेमवाले चश्मे के भीतर से जब एकटक महात्मा गांधी की फोटो निहारते रहते हैं, तब उनके विरोधी भी पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं. चूंकि शोक मनाने का काम और किसी का नहीं, पार्टी के अध्यक्ष का है इसलिए शोक की दरी पार्टी-कार्यालय में नहीं, अध्यक्ष के घर में बिछाई जायेगी, तो लोग सुनकर बाग-बाग हो गये. और पार्टी के सचिव सुंदरसिंह के तर्क रद्दी की टोकरी में फेंक दिये गये. बिहारी जी ने अपनी जीत सुनिश्चित करने के उद्देश्य से एक छक्का और मारा. उन्होंने घोषणा की कि वे तीसरे दिन प्रधानमंत्री का कारज करेंगे और अपना सिर मुड़ायेंगे और ठीक बारहवें दिन तेरह ब्राह्मणों के साथ सभी पार्टीजनों को भोज देंगे. लोगों ने खुलकर उनकी तारीफ की. वाह, पार्टी का अध्यक्ष हो तो ऐसा. बिहारी जी जैसा दिलदार अध्यक्ष पार्टी को कभी नहीं मिला. शोक की दरी बिहारी जी के यहां ही बिछनी चाहिये. . .

उसी वाहवाही की दम पर बिहारी जी ने पार्टी कार्यालय से लौटते ही शोक की दरी बिछाने की व्यवस्था कर ली, लेकिन काफी देर तक कोई नहीं आया तो उनको खटका होने लगा.

उन्होंने सुरेश की अम्मा से चाय बनाने को कहा तो उन्होंने आदेश भीतर बहू की ओर फेंक दिया. मीरा से रेडियो खोलने को कहा. उसने खोला. पौने नौ बजे के समाचार में कोई खास बात नहीं थी. रेडियो बंद करा दिया. टी. वी. खोलने को कहा तो वहां भी कोई खास बात नहीं थी. वह भी बंद करा दिया. सुरेश की अम्मा चाय लायी. पीकर थोड़ी सुस्ती कम हुई. ठीक तभी सुंदरसिंह आ गया. उसको देखकर काफी अच्छा लगा. बिहारी जी का मन भर गया. सारी दुविधाएं दूर हुई. अब लोग जरूर आयेंगे. सुंदरसिंह से एक कप चाय पीने का उन्होंने आग्रह किया लेकिन उसने चाय नहीं पी. बहुत उदास था. हिचकी भरकर बोला, "बिहारी जी, अब देश का भगवान ही मालिक है. पूरे शहर में हाहाकार मचा है. तमाम सरदारों की दुकानें जला दी गयी हैं. घरों में लूट मची हुई है."

बिहारी जी बोले, "ये सब भगवान की लीला है. जिसको लुटना है सो लुटेगा, बचना है सो बचेगा."

"हमारी पार्टी के भी बहुत सारे लोग आगजनी और लूट में शामिल हैं. हमें कुछ करना चाहिए. बल्कि उन्हें रोकना चाहिए."

"अरे भाई, तुम तो हर मामले में उतावले होकर बात करते हो. बुद्धि पर जोर तो देते नहीं, चिल्लाने लगते हो. भला बताओ तो, ऐसे में तुम किस-किस को नाराज करोगे, किस-किस से लड़ाई मोल लोगे.

आजादी के तुरंत बाद या फिर अभी पिछले वर्ष फैले सांप्रदायिक दंगों का प्रतिफल किसे क्या मिला. . . ? कौन हैं वे लोग जो दंगा फैलाते हैं और लाभ में भी रहते हैं . . . ? क्या आप उन्हें जानते हैं . . . या जानना चाहते हैं . . . ? दंगों का अर्थ-तंत्र बयान करती युवा कथाकार की एक सशक्त रचना—

पार्टी चलाते हो या तमाशा करते हो. . . और फिर तुम्हें जो करना हो सो करो, हम तो यहां शोक पर बैठे हैं. तुम वहां चलने की कह रहे हो, हम तो यहां से हिल भी नहीं सकते."

उन्होंने अपनी बात पूरी करते ही सुंदरसिंह को देखा. वे डर रहे थे कि वह इतनी तीखी बात सुनकर कहीं ऐंठकर चला न जाय, लेकिन वह गया नहीं. वहीं पर हाथ-पैर सिकोड़कर बैठा रहा. उसके आज के व्यवहार से बिहारी जी को आश्चर्य भी हो रहा था.

उसी समय मुहल्ले के कई लोग शोक में सहयोगी बनने के लिए आ पहुंचे. देखते ही देखते पूरा बरामदा भर गया. जो महिलाएं आयीं वे भीतर कमरे में चली गयीं. बिहारी जी को बड़ा सुख मिला.

जो लोग बिहारी जी के यहां आये उन्होंने अपने-अपने ढंग से प्रधानमंत्री को श्रद्धांजलि दी. पंडित दीनानाथ ने हिचकी भरकर कहा, "हे भगवान, तू ही लाज रखना. साक्षात् देवी को दुष्टों ने मार डाला. वो तो अवतार थी, जैसी आयी वैसी चली गयी, लेकिन हम सबका अब क्या होगा."

करीम सेठ ने कहा, "ये तो गद्दारी है—मुल्क के साथ सरासर गद्दारी. अब समझो जनाब, लोग तो हमारी कौम को गद्दार कहते थे लेकिन हमने तो कभी मुल्क के साथ ऐसी गद्दारी नहीं की."

प्रो. गोयल ने कहा, "देख लेना, उन हरामियों को जनता छोड़ेगी नहीं. एक-एक को गिन-गिन के मारेगी. मैं अभी देखकर आया हूं, अपने बाजार के पंजाब मैडीकलवाले की दुकान में तो लोगों ने आग लगा दी है. कुछ लोग तो कह रहे थे कि उसके मालिक को भी मार डाला गया है."

बिहारी जी को लगा कि प्रधानमंत्री जी के शोक में हिंसा की बातें नहीं होनी चाहिए. उन्होंने चाहा कि वे सबको समझा दें कि वे महात्मा जी के फोटो के नीचे बैठे हैं और प्रधानमंत्री का शोक मना रहे हैं तो हिंसा की बात न तो कहें और न सुनें.

बिहारी जी कुछ कहें उससे पहले ही डॉ. काले बोले, "अच्छा हुआ, नकली दवाइयां बेच-बेच के उसने लोगों को खूब लूटा है."

ऊपर से रामलाल सेठ ने जड़ दिया, "अरे, डॉक्टर साहब, एक तुम उस दवावाले की बात करते हो, इन्होंने हमारे हाथ से सारा व्यापार छीन लिया है और धड़ल्ले से नकली माल बेचते हैं."

बिहारी जी का मन खिन्न हो गया. उनके रहते हिंसा की बात हो और वे बैठे-बैठे ताकते रहें यह नहीं हो सकता. उन्होंने सेठ जी के बहाने सभी को टोका, "देखो सेठजी, हम लोग अभी महात्मा जी के दरबार में बैठे हैं और उनकी लाड़ली बेटी का शोक मना रहे हैं, तो हमें भूलकर भी हिंसा की बात नहीं करना चाहिए. किसी को मारना-पीटना तो हिंसा है ही किसी की चीज लूटना भी. . . ."

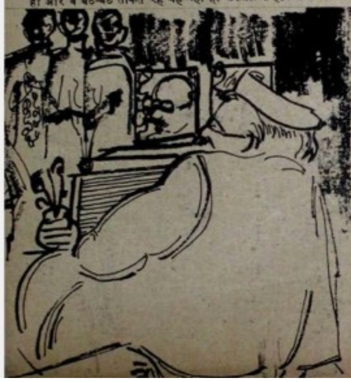

बिहारी जी यकायक चुप हो गये. सामने से सुरेश पीठ पर सोफा लादे चला आया और उन लोगों के बीच से होकर बगलवाले दरवाजे से अंदर चला गया. थोड़ी ही देर में वह दरवाजे से फिर वापस आया और किसी से कुछ कहे बिना गली में भागता चला गया. बरामदे में बैठे लोगों के बीच सन्नाटा छा गया. सभी ने रुक-रुककर एक-दूसरे की ओर देखा. कुछ लोगों ने बिहारी जी को भी देखा. कहा किसी ने कुछ नहीं. सबसे पहले सुंदरसिंह उठकर चला गया, उसके बाद एक-एक करके सभी खिसक गये. स्त्रियां भी चली गयीं.

बिहारी जी उठकर बगलवाले दरवाजे से हाल में चले गये. सुरेश की अम्मा और मीरा वहां पहले से खड़ी थीं. बिहारी जी सोफा की ओर देखकर बड़बड़ाने लगे, "ये क्या तमाशा है आखिर. हरामी कहीं का. सबके सामने सोफा लादकर ले आया. सब लोग देखकर गये हैं, कल किस मुंह से बात कर सकूंगा लोगों से?"

"जिस मुंह से अब तक बात करते रहे हो उसी से करना. कोई आसमान नहीं टूट पड़ा है. सभी लूट रहे होंगे तो वो बेचारा भी एक चीज उठा लाया. इसमें कौन बड़ी बात हो गयी जो किसी को मुंह नहीं दिखा सकोगे."

वे सुरेश की अम्मा के मुंह को ताकते खड़े रहे. जब वे बोलती हैं, तब ऐसे ही बोलती हैं. बिहारी जी की सिट्टी गुम हो जाती है और सारी तर्कबुद्धि नसा जाती है. उनसे कुछ कहते नहीं बना तो सोफा ही देखने लगे. अच्छा है, लेकिन अधूरा. अगल-बगल की दो कुर्सियां और बीच की टेबिल होती तब जंचता.

बिहारी जी बाहर आ गये और बरामदे की दरी पर फिर मसनद के सहारे बैठ गये. उनकी आंखों में सोफा की सुंदरता बैठ गयी थी लेकिन उसका अधूरापन कीड़े की तरह काट रहा था. तभी सुरेश कंधे पर सिलाई मशीन रखे हुए सामने की गली से लपकता फिर आया और अंदर चला गया. वे उससे नहीं बोले. बोलें भी क्या, साला सब कुछ अधूरा-अधूरा सामान ला रहा है. अब भला बताओ, सिलाई-मशीन लाया है तो उसका पैरदान ही गायब है.

सुरेश फिर घर से निकलकर गली में दौड़ गया. शहर की पृष्ठभूमि से जो शोर रह-रहकर उभर रहा था वह और अधिक फैलकर घना हो गया था. गली में कुछ अन्य घरों के छोकरे भी उछल-कूद करते दिखाई दिये. वे भी छोटा-मोटा सामान लेकर दौड़ लगा रहे थे. बिहारी जी के मन में भी कुछ उमंग जैसी उठी लेकिन महात्मा गांधी और इंदिरा जी के फोटो की ओर देखकर उमंग गायब हो गयी. वे आजकल पार्टी के पद भार से अपने आपको दबा हुआ अनुभव करते हैं वर्ना ऐसे मौकों पर वे हाथ रखकर बैठनेवाले व्यक्ति नहीं हैं.

सभी लोग जानते हैं कि इस शहर में जब-जब इस तरह का माहौल पैदा हुआ है तब बिहारी जी सब से आगे रहे हैं. उन्होंने अपनी संपदा का बहुत बड़ा हिस्सा ऐसे माहौल में ही अर्जित किया है. इस कालोनी

के तीन मकानों में से दो तो मुसलमानों की जमीन पर ही उठ खड़े हुए हैं. घर में छोटी-मोटी अनेक चीजें सांप्रदायिक दंगों की यादगार हैं. लेकिन बिहारी जी जानते हैं कि उस समय के माहौल में और आज के माहौल में जमीन-आसमान का फर्क है. उस समय मुसलमानों के दस घर खखोरने पर भी कोई खास सामान हाथ नहीं लगता था. घरों में टाट के पर्दे, अल्मोनियम के थाली-लोटे और बसाती हुई दरी-रजाई से ज्यादा और कुछ नहीं. दुकानों पर भी ज्यादा से ज्यादा मनिहारी का सामान, ऐसे में भला क्या लूटा जा सकता था ? फिर भी बिहारी जी अपने मतलब का सामान खखोर ही लाते थे. आज कुछ बात ही दूसरी है. अब देखो न, उनका सुरेश पहले झपट्टे में ही सोफा और सिलाई की मशीन ले आया. अभी तो शुरू हुआ है, आगे और भी हासिल हो सकता है. उन्हें लगा कि वे बेकार में इस शोक सभा का झमेला लेकर बैठ गये हैं.

सुरेश कोई भारी चीज अपने कंधे पर लादकर लाता हुआ दिखायी दिया. बरामदे के पास तक आया तो बिहारी जी को उसके कंधे पर टी. वी. स्पष्ट दिखाई दिया. हाय रे, लड़के का कंधा टूटा जा रहा होगा, टी. वी. काफी भारी है. वे छटपटाकर उठे और बरामदे की सीढ़ियों पर सुरेश के कंधे का टी. वी. उन्होंने उतरवा लिया.

सुरेश के माथे से पसीना टपकने को था. वह बुरी तरह से हांफ रहा था. बिहारी जी ने ट्यूबलाइट के दूधिया प्रकाश में लड़के के चेहरे को गौर से देखा. तपे हुए लोहे के समान लाल पड़ गया था. उन्हें बच्चे पर दया आ गयी. बेचारा अकेला क्या-क्या करे ? बहुत तो कर लिया. रंगीन टी. वी. है, आठ-दस हजार से कम का नहीं होगा. ऊपर से सोफा और मशीन भी है. बहादुर बेटा है. उनके मन में वर्षों से सुरेश के लिए आवारापन और निठल्लेपन के जो भाव जड़ जमा चुके थे वे एक ही झटके में उखड़कर दूर जा पड़े. उन्होंने अपने खादी के रूमाल से लड़के का चेहरा पोंछ दिया.

मीरा को टी. वी. काफी पसंद आया. सुरेश की ससुरालवाला साधारण टी. वी. देखते-देखते वह ऊब चुकी है. ऊपर से सुरेश की बहू के नखरे सहने पड़ते हैं.

सुरेश की अम्मा को मशीन काफी अच्छी लगी. ऊषा की बिल्कुल नयी मशीन है. अभी तो साल भर भी नहीं चल पायी होगी. हाय रे, दाग तक नहीं है. . . सुरेश की बहू को सुना-सुनाकर वे मशीन की तारीफ किये जा रही थीं और सुरेश का सीना तना जा रहा था. बिहारी जी को सुरेश की अम्मा की यह आदत पसंद नहीं है. भला बताओ, लड़के के सामने बहू के पीहर से आये सामान को घटिया बताया जाय तो बहू से लड़के का मन क्यों नहीं फिरेगा. यह बात अच्छी नहीं है. बिहारी जी को अच्छी नहीं लगती, फिर भी वे उनसे से कुछ कह नहीं सकते.

सुरेश ने मीरा से मंगाकर एक गिलास पानी पिया और फिर चला गया. जब से प्रधानमंत्री की हत्या का समाचार आया था बिहारी जी का मन बहुत भारी था. उन्होंने सुरेश की अम्मा से चाय बनाने को कहा. उन्होंने बहू से कह दिया. बिहारी जी थोड़ी देर के लिए सोफा पर बैठ गये. नये सोफा पर बैठने में बड़ा आराम मिला. बहू चाय बनाकर लायी तो उससे चाय की ट्रे सुरेश की अम्मा ने ले ली. उन्होंने एक चाय का कप बिहारी जी को थमा दिया और एक खुद लेकर उनके सामने की कुर्सी पर बैठ गयी. बिहारी जी का मन हुआ कि वे उन्हें बुलाकर अपनी बगल में बिठा लें और शरीर से शरीर रगड़ते हुए चाय पियें. लेकिन मीरा को टी. वी. के पास खड़ा देखकर सारा नशा जैसे उतर गया. वे चाय का कप हाथ में लेकर बाहर चले आये.जिस पर बिहारी जी का कब्जा है.

उनके मकान के बायीं ओर जो सड़क है, उससे लगा हुआ एक बड़ा मैदान पड़ा है.

बिहारी जी चाय पीते हुए उसी मैदान की ओर देख रहे थे, तभी उस ओर की गली से दो छोकरे दो-दो कुर्सियां पकड़े हुए दौड़ते आये और मैदान के कोनेवाले कीचड़ में घुसकर धम्म से गिर पड़े. उनके गिरते ही बिहारी जी ने फटकार लगायी. "कौन है रे ! साले चोर कहीं के ! मुफ्त का माल समझ रखा है हरामी ! बुलाओ तो पुलिस को ! पकड़ो इन सालों को !"

दोनों छोकरे हड़बड़ाकर उठे और कुर्सियों को वहीं पड़ा छोड़कर उसी गली में भाग खड़े हुए. बिहारी जी चाय का प्याला इंदिरा जी के फोटो के पास मेज पर रखकर कीचड़ की ओर लपककर बढ़े. उन्होंने दो बार में चारों कुर्सियां उठाकर बरामदे में रख लीं और फिर भीतर ले आये. मीरा ने कुर्सियों की कीचड़ साफ कर दी. डायनिंग टेबिल के साथ की चार काफी कीमती कुर्सियां देख-देखकर बिहारी जी का मन काफी हल्का हो गया. चलो ठीक ही हुआ, कल को बात चलने पर सुरेश यह तो नहीं कह पायेगा कि दादा हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे.

वे बाहर आये और महात्मा जी और इंदिरा जी के फोटो की ओर बारी-बारी से देख लिया. महात्मा जी अपनी पोपली हंसी के साथ और इंदिरा जी अपनी वही सदाबहार मुस्कान के साथ मानो बिहारी जी का उत्साहवर्धन कर रही थीं. बिहारी जी बरामदे के बायीं ओर फिर पहुंच गये और मैदान की ओर देखने लगे. मानो इधर उनको और कुछ मिलने की आशा हो.

उसी गली से दो आदमी फिर प्रगट हुए और सफेद कपड़े में लिपटी एक लाश जैसी चीज को दोनों ओर से जकड़े हुए मैदान के किनारे तक आ गये. बिहारी जी की घबराहट के कारण चीख निकल गयी. वे पहले तो चीखे और फिर थोड़ा संभलकर उन आदमियों पर दूकने लगे. उन दोनों के पैर उखड़ गये और उस लाश जैसी चीज को वहीं पड़ा छोड़कर गली में उल्टे पैर भाग खड़े हुए. बिहारी जी आंखें फाड़-फाड़कर उसी ओर देख रहे थे और यह तय नहीं कर पा रहे थे कि वह लाश ही है या और कोई चीज. सुरेश की अम्मा और मीरा उनके पीछे खड़ी थीं. वे सुरेश की अम्मा से क्या पूछते. उनकी नजर तो बिहारी जी से भी मोटी है. मीरा से पूछा तो उसने साफ बता दिया कि वह लाश नहीं है, लगता है सफेद रंग का संदूक है.

बिहारी जी ने सुरेश की अम्मा को अपने पीछे आने का इशारा किया और बरामदे से नीचे उतरकर उधर को लपक गये. वहां जाकर जैसे खुशी से झूमने लगे. वहां संदूक नहीं था अच्छा-भला एक फ्रिज पड़ा था. उन्होंने देर नहीं की और सुरेश की अम्मा की सहायता से उसको बरामदे की ओर ले जाने की कोशिश करने लगे. कुछ ही कदम उस फ्रिज को मैदान में लाने के बाद वे दोनो नफसेल हो गये. सुरेश की अम्मा ने साफ जवाब दे दिया और हाथ झाड़कर अलग हो गयीं. बिहारी जी की दम जा रही थी. हाथ में आया इतना बढ़िया फ्रिज कहीं छोड़ना न पड़ जाय. पड़ोस का कोई आदमी आ धमका तो जवाब देते नहीं बनेगा. सुरेश ने अब की काफी देर लगा दी. वह आ जाता तो बात बनती. यह अच्छी बात है कि डर के कारण कोई पड़ोसी घर से नहीं निकल रहा है वर्ना यहां खड़े रहना भी मुश्किल होता. वे घबराहट के कारण कांपते हुए खड़े थे और फ्रिज को अपने घर के अंदर तक ले जाने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा था. तभी मैदान के कोनेवाले मकान की खिड़की खुली. आहूजा जी ने खिड़की से बाहर झांका और बिहारी जी और उनकी पत्नी को पहचानकर बोले, "कौन नेताजी. ये क्या सुरेश की मम्मी खड़ी हैं? . . . वो उधर क्या पड़ा है?"

बिहारी जी सकपका गये लेकिन घबराहट छुपाते हुए तुरंत बोल भी दिया, "कुछ नहीं भाई, किसी सरदार की लाश पड़ी है. साला बड़ा अंधेर है जी."

आहूजा जी ने घबराकर अपनी खिड़की बंद कर ली.

ठीक तभी उनके पीछेवाली गली से एक लंबा-सा आदमी बगल में एक भारी झोली लटकाये हुए चला आ रहा था. पास आने पर बिहारी जी ने पहचान लिया, अकबर था. वह भी नेताजी और उनकी पत्नी को देखकर घबरा गया.

बिहारी जी ने उसकी झोली पकड़ ली और धीमी आवाज में उसे लताड़ा, "क्यों रे, साले चोर, इसमें क्या है?"

"कुछ नहीं, अल्लाह कसम कुछ नहीं." वह शराब के नशे में लड़खड़ा रहा था और उसी तरह की अटपटी जबान बोल रहा था. उसने झोली बिहारी जी के हाथ से दूर कर ली और उसमें से निकालकर दो बोतलें बिहारी जी को थमा दीं. 'रम' की दो बोतलें देखकर बिहारी जी के मुंह में पानी भर आया और आंखों में प्यास उभर आयी.

अकबर फिर बोला, "ये आपके लिए हैं, अल्लाह हुजूर. काफी कोशिश करके लाया हूं ! . . .अल्लाह कसम."

"चुप रह साला चोर. क्यों रे, तुझे पार्टी का मेंबर क्या इसीलिए बनवाया था?"

"नहीं साहब, अल्लाह खैर करे, मैं चोरी नहीं करता! . . . वो अपने सरदारजी की दूकान पर पौवा लेने गया था हुजूर! . . .वहां देखा, जुल्म मचा हुआ है, लोग शराब जैसी चीज को सड़क पर फेंक रहे थे. . . कुछ ले जा भी चुके रहे थे. . . झूठ नहीं बोलूंगा अल्लाह हुजूर, कुल बीस बोतल मेरे हाथ लगीं. . .अंधा क्या चाहे, दो आंखें सरकार! . . .उस पर भी मैं बोतलें लेकर चला तो दारोगा ने आ घेरा. . .कहने लगा—साले, ले तो जा रहा है, आधी हमारे यहां पहुंचाना वर्ना-मार-मारकर हगा दूंगा. . . . अल्लाह कसम, पूरी दस उसके यहां देकर आया हूं, दो आपके हिस्से की हो गयीं हुजूर. . .अब कौन झगड़ा मोल ले आप लोगों से. . ."

"अच्छा ठीक है. बहुत हो गया तेरा भाषण. ऐसा कर, इस झोली को उधर एक ओर रख दे और इस फ्रिज को घर में पहुंचा."

"मैं अकेला कैसे ले जाऊंगा अल्लाह हुजूर."

"तू अकेला नहीं, मैं भी तो हूं."

अकबर और बिहारी जी के बीच किसी जमाने में बहुत गहरी छनती रही है. दोनों ने वर्षों तांगा जोता है. बिहारी जी की घोड़ी को जब तकलीफ होती थी, वह पड़ी-पड़ी कुरांने लगती थी, तब उसका इलाज अकबर ही करता था. वह बड़ा रौनकदार आदमी है. मुफलिसी के दिनों में जिंदादिली से जीना कोई अकबर से सीखे.

अकबर के साथ मिलकर बिहारी जी ने फ्रिज को घर के बड़े हाल में पहुंचा दिया. अकबर दौड़कर गया और अपनी झोली उठा लाया. वह उनके घर में इतना सारा सामान देखकर भौचक्क-सा खड़ा रहा. फिर साहस करके बोला, "नेता जी, इतना सारा कहां से आया है हुजूर?"

बिहारी जी का मन हुआ कि कह दें कि लड़के की ससुराल से दहेज में आया है. लेकिन यह उनको जचा नहीं, इसलिए कह दिया, "आया कहां से है, तेरे जैसे चोर सरदारों के यहां से चुराकर लाये हैं. हमें जितना दिखा है वह हमने यहां रखवा लिया है. सबेरे जिसका होगा उसके घर पहुंचा देंगे. कोई नहीं लेगा तो पुलिस को सौंप देंगे. जब नेतागिरी करनी है तो इतना तो करना पड़ेगा रे."

तभी कुछ रजाई-गद्दे समेटे हुए सुरेश घर में घुस आया. उसने रजाई-गद्दे सोफा पर रख दिये और फ्रिज को देखने लगा.

अकबर फिर बोला, "ये लिहाफ और गद्दे भी चोर लाये हैं, अल्लाह हुजूर."

बिहारी जी अकबर की शरारत भरी मुस्कान का अर्थ समझ गये. वे मन ही मन कुढ़ने लगे. हरामी कहीं का. सारी बातें लोगों से कहेगा. यह आज का नहीं हमेशा का इसी तरह का शातिर है. इसकी शरारत से ही बिहारी जी की कलई कई बार खुलते-खुलते बची है. उन्होंने उसको फुसलाते हुए कहा, "वैसे तो ये रजाई-गद्दे भी लोगों को वापस किये जायेंगे, लेकिन तू एक रजाई और एक गद्दा उठा ले जा. किसी से कहना-सुनना मत. सर्दी पड़ने लगी है, तेरे बच्चों के ओढ़ने-बिछाने को जरूरी है."

"तौबा-तौबा, खुदा खैर करे हुजूर. अकबर ऐसी चीजों पर थूकता है, अल्लाह हुजूर." कहकर वह बाहर चला गया.

बिहारी जी के मुंह पर मानो किसी ने खांसकर थूक दिया हो. उन्होंने रूमाल जेब से निकालकर अपना चेहरा पोंछा और उसको ध्यान से देखने लगे. साला दो कौड़ी का आदमी है, कहीं सचमुच मुंह पर थूककर तो नहीं चला गया!

उनका पूरा परिवार फ्रिज को देखने में लगा था. दूधिया रंग का बिल्कुल नया फ्रिज मानो पूरे हाल में अपना अलग प्रकाश फेंक रहा था. बिहारी जी भी उसी को देखने लगे. सुरेश की नजर यका-यक फ्रिज के नीचे के हिस्से में लिखे नाम पर ठहर गयी. वह चौंककर बोला, "दादा, यह फ्रिज तो वकील साहब का है."

"कौन वकील साहब?"

"वही, अपने वकील साहब, जुनेजा जी."

"ऐं...." बिहारी जी को मानो बिजली का करंट लगा हो. जुनेजा जी से उनके गहरे संबंध हैं. वे बिहारी जी के निजी वकील हैं. साथ ही साथ पार्टी के कानूनी सलाहकार भी हैं. उन्होंने पंद्रह-बीस साल में जो कुछ भी गैर-कानूनी तौर पर हासिल किया है उसमें कानून की मुहर जुनेजा जी के मार्फत ही लगी है. जुनेजा जी बिहारी जी से पहले पार्टी के अध्यक्ष भी थे लेकिन यह पद उन्होंने बिहारी जी की खातिर सहर्ष छोड़ दिया था. बिहारी जी पर जुनेजा जी के काफी अहसान थे. उनका फ्रिज बिहारी जी के गले में अटक गया. उनका चेहरा लटक गया और चेहरे की झुर्रियों के रास्ते दुविधा झांकने लगी.

इस गंभीर मसले पर उन्होंने सुरेश की राय लेना उचित समझा. उन्होंने कहा, "बेटा सुरेश, तो इस फ्रिज का क्या किया जाय ? मेरे ख्याल से सबेरे ही वकील साहब के यहां भेज दें. कह देंगे कि रात को लोगों से छीना है. और बात सही भी है."

सुरेश कुछ कहे, उससे पहले ही सुरेश की अम्मा कह उठीं, "सिर्री तो नहीं हुए हो. घर आयी चीज भला कहीं ऐसे वापस होती है."

"अरे, कोई देखेगा तो क्या कहेगा. कहीं मुंह दिखाने लायक नहीं रहेंगे भागवान."

"तुम्हारा मुंह तो ऐसा ही है. कोई बात हुई कि बस दिखाने लायक रहता ही नहीं."

"अरे, कहीं जुनेजा जी अपने घर आये और फ्रिज उन्होंने पहचान लिया तो हमारी क्या हालत होगी, बोल?"

"जुनेजा जी तो मर-खप के अब तक सरग में पहुंचे होंगे. अब वे यहां नहीं बैठे जो तुम्हारे यहां फ्रिज देखने आयेंगे. लो, बताओ भला."

"दादा, ऐसा करेंगे. यह नाम सफेदा से मिटा देंगे और ऊपरवाले कमरे में रखेंगे. कोई देखनेवाला नहीं है." सुरेश ने कहा.

बिहारी जी पत्नी और लड़के की बातों से संतुष्ट हो गये. उन्होंने भी मान लिया कि जुनेजा जी का सचमुच सरगवास हो गया. अब वे यहां क्या खाकर के आयेंगे. बिहारी जी मन ही मन मृत आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करने लगे.

बाहर आकर उन्होंने दरी समेट ली. महात्मा जी और इंदिरा गांधी के फोटो को वहां से हटाकर भीतर हाल में टांग दिया. वे अपने सोने के कमरे में जाते हुए सुरेश से बोले, "देखो सुरेश, सबेरे को तुम सुंदरसिंह के यहां चले जाना. उससे कहना, कल से शोक की दरी पार्टी कार्यालय में ही बिछेगी." □

● कृष्णनगर, महल के पीछे, शिवपुरी (म.प्र.)

चलते-चलते

लोगों और सिर्फ लोगों के बारे में ही लिखते रहना बहुत उबाऊ काम है. यदि आपने लोगों के बारे तीन कहानियां लिख डाली हैं तो चौथी कहानी घोड़े, कुत्ते या बिल्ली पर लिखिए. भले ही यह कहानी उन कहानियों से घटिया हो, जिनमें लोगों के बारे लिखा गया है, पर इसे बहुत रुचि के साथ पढ़ा जायेगा. □

—चेखव

लुटेरे

विभांशु दिव्याल

अंधेरे या एकांत या अपरिचय का लाभ उठाकर आपको जो लूट ले जाये वह तो हुआ लुटेरा—मगर जिसे आप जानते-पहचानते हों और आपको लगातार लूटता भी रहता हो उसे क्या कहेंगे आप...? प्रस्तुत है इन दूसरी तरह के लुटेरों को नाम देती विभांशु की ताजा कहानी—

वह गली के मुहाने पर ही ठिठक गया. गली में भुतहा अंधेरा भरा हुआ था. डरावना, दहशत पैदा करनेवाला. गली में बिजली के कई खंभे थे, पर रोशनी नहीं थी. उसने इधर-उधर देखा, कोई साथ के लिए आये, पर एक भी इंसानी आकृति उस ओर आती हुई नजर नहीं आयी. उसे एक डरावने विरोधाभास की अनुभूति हुई. थोड़ी ही दूर पर जगमग करती मुख्य सड़क, और इधर अंधेरे में डूबी यह भुतहा गली. उस सड़क की पृष्ठभूमि में गली का नीम अंधेरा बहुत गहरा और गाढ़ा लग रहा था.

क्या लौट चले?

वह कुछ तय करता कि गली के अंदर आवाजें उभरने लगीं—बोलने और चलने की आवाजें. फिर अंधेरे के गर्भ से कुछ आकृतियां प्रकट हो गयीं. ये उसी ओर आ रही थीं.

उनके चेहरे स्पष्ट नजर नहीं आ रहे थे, पर उसकी आंखों में क्रूर लुटेरों के खूनी चेहरे कौंधने लगे—उसे लगा, वे लुटेरे करीब आते ही उस पर झपट पड़ेंगे. उसका हाथ तुरंत अपनी जेब में रखे पांच हजार रुपयों पर चला गया... झटके से उसने हाथ हटा भी लिया. कहीं उसके हाथ की संदेहास्पद हरकत ही उन खूनी चेहरों को उसकी ओर न खींच दे.

आवाजें एकदम करीब आ गयीं...

उसकी आंखों के आगे लंबे-लंबे चाकू लहराने लगे. अपनी आंतें सड़क पर फैली हुई नजर आयीं. दिल की धड़कन रुकती हुई लगी.

वे नौजवान लड़के थे जो जोर-जोर से बात करते हुए आगे बढ़ गये.

उसकी रुकी हुई धड़कनें फिर से चालू हो गयीं, लेकिन सम पर नहीं आयीं.

अब उसे स्वयं अपने ऊपर क्रोध आ रहा था कि इतनी देर की ही क्यों. पर करता भी क्या? दोनों पुलिसवाले इस तरह जमकर बैठ गये थे कि न उठाये बन रहा था, न बिठाये. "टुकड़ भूखे कूकर," मनोहर कहता है, "न इनकी यारी अच्छी, न दुश्मनी. जब-तब टुकड़ा फेंक दिया करो."

पुलिसवालों को आते-जाते चाय-लस्सी के लिए तो वह बिठा ही लेता है, पर आज तो वे जम ही गये थे. "लाला, बुरे का मुंह देखकर उठे, सुबह से चाय तक नसीब नहीं हुई. दो ठिकानों पर रेड मारी, इसकी मां का... एक भी हत्थे नहीं चढ़ा. लाओ चाय-शाय करा दो."

चाय पीने के बाद वे दूकान के फड़ पर ही अधलेटे हो, थकान मिटाने लगे थे, सो भी तब, जब वह दूकान बंद करने जा रहा था.

उसकी बेचैनी भांपकर एक सिपाही बोला था, "सीधे थाने पहुंच गये तो थानेदार दम नहीं लेने देगा. लौंडिया की शादी तै कर दीनी हैगी. हमें रगेदता हैगा कि दहेज इकट्ठा करो... दो मिंट क्यां पांव फरेरे कर लें..."

"आपकी दूकान है दीवानजी, चाहे जब तक आराम करो," उसने अपनी चिढ़-नफरत को मुस्कान का रेशमी जामा पहनाया था. मन हो रहा था कि अपने बाल नोच डाले.

आज की सारी रोकड़ और ढाई हजार उगाही का, उसने सोचा था कि इतनी बड़ी रकम के साथ अकेला नहीं जायेगा, मनोहर को साथ ले लेगा, पर पुलिसवालों की खातिर-खिदमत के चक्कर में ध्यान ही नहीं रहा और मनोहर अपनी दूकान बंद कर निकल गया.

पता होता घर लौटने में रात हो जायेगी तो उगाही की रकम पास क्यों रखता. बैंक

पहुंचा देता, या घर सुरक्षित पहुंचाने की कोशिश करता. मगर अब क्या हो? पुलिसवालों से ही कहना था कि वे ही उसे घर तक छोड़ देते. तुरंत ही अपने इस ख्याल को उसने परे सरका दिया. पुलिसवालों का ही क्या भरोसा? चील से कहो, मांस की रखवाली करे!

चौराहे पर ही घर तक का कोई साथ तलाशना था. कोई सवारी ही ले लेनी थी. एक रिक्शेवाले ने उसे आवाज भी दी थी, पर वह टाल गया था. जरा-सी दूर के लिए कौन रिक्शा ले? पर अब पछतावा हो रहा था. रिक्शा ले लेता तो एक से दो तो होते. अगले ही पल उसे ध्यान आया कि पिछली बार इस गली में जो लूट हुई थी उसमें रिक्शेवाला भी शामिल था. गली में इतना अंधेरा! फिर रिक्शेवाले का क्या भरोसा?

पर अब?

वह गली में आगे तो बढ़ रहा था. मगर उसे अपने दिल की धक्-धक् ही किसी डरावने शोर-सी लग रही थी. हर परछाईं चौंका रही थी. हर आवाज घबराहट पैदा कर रही थी.

गली के भीतर गली. एक से एक अंधेरी. कोई चाकू मारकर भागे तो पता तक नहीं लगे कि कहां घुसा, कहां निकला... उसका हाथ पुनः जेब के रुपयों पर पहुंच गया.

बिक्री की तारीख भी—कल ही पड़नी थी. उसने कल की तारीख को कोसा. पर तारीख तो पड़नी ही थी. उसे एक मुश्त रकम भी देनी थी. वकील साहब ने याराना अंदाज में उसके कंधे पर हाथ मारते हुए कहा था, "यार लाला, क्यों केस लंबा खिंचवाता है? दो हजार में सारा मामला पट जायेगा. तुम्हारी दुआ से एस. टी. ओ. मेरा यार है, बात मान जायेगा."

वह ताव खा गया था. वकालत न हुई, दलाली हो गयी. सारे खाते ठीक हैं, स्टॉक ठीक है, फिर भी—तब मनोहर ने समझाया था, "लाला, दुकानदारी कर रहे हो, अफसरी नहीं. यहां जो भी आकर खड़ा होगा, उसी के सहलाने पड़ेंगे. आजकल हिसाब-किताब ठीक नहीं रखा जाता, हिसाब-किताब रखनेवालों को ठीक रखा जाता है."

बात उसकी समझ में न भी आयी हो, तब भी उसे समझनी पड़ी थी, जैसे और बातें समझनी पड़ी थीं. आज इकट्ठा रुपया भी इसीलिए ले जा रहा था कि सबका लेना-देना, एक बार ही निपटा दे. मार्केटिंग इंस्पेक्टर को देना था, ओमप्रकाश सिंह को देना था, वकील साहब की फीस देनी थी. तेल का कोटा बढ़वाने के लिए एक हजार रुपये राजा भैया के ऑफिस में जमा कराने थे.

वह फिर ठिठक गया. आगे उसे एक परछाईं-सी नजर आ रही थी. परछाईं हिली तो लगा कोई टोह में खड़ा है. डर नये सिरे से उसके अंदर पैठने लगा.... क्यों यह मूर्खता की कि

सबका हिसाब-किताब एक ही दिन चुकता करने की बात सोच ली? पर किसको टालता, कब तक टालता? ओमप्रकाश सिंह का आदमी दो बार आ चुका है. मनोहर भी टोक चुका है. "ये चंदा तो देना ही है, दे-दिवाकर बला टालो. बेटी का भार, ताकतवर का उधार, जितनी जल्दी उतरे उतना अच्छा."

चंदा देने को वह कब मना करता है, पर दे तो तब, जब पैसे हों. बीवी के पेट का आपरेशन हुआ तो तीन हजार चाट गया. और बड़े होते हुए बच्चों के बढ़ते हुए खर्च! इंतजाम तो होते-होते ही होता है. ओमप्रकाश सिंह को टालने की बात तो वह सोच भी नहीं पाता. उसे टालने का मतलब अच्छी तरह जानता है.

नयी-नयी दूकान खोली थी बाजार में. पंद्रह दिन भी नहीं हुए थे कि एक दिन दूकान का ताला टूटा हुआ देखा तो जी धक्! गनीमत हुई थी कि चोर माल नहीं निकाल पाये थे.

बाजार में चौकीदार के रहते हुए भी...

चौकीदार ने चार वाक्य बोलकर पल्ला झाड़ लिया, "ये बीस-बीस रुपल्ली के ताले! लबिया लगा कि पटाक! इत्ता लंबा बाजार, या छोर ते वा छोर तक जाने में टैम लगती है. चटका दिया इत्ती देर में. इत्ता क्या कम है, माल निकालने की जुगत नहीं बैठी..."

मनोहर ने कहा था, "लाला, बाजार में नये हो. न चौकीदार कुछ करेगा न पुलिस. आज माल नहीं निकलना था ताला ही चटकना था."

वह भौंचक. समझा ही नहीं.

मनोहर बोला, "फुर्सत में बताऊंगा."

फुर्सत में मनोहर ने समझाया था, ओमप्रकाशसिंह और ताला टूटने के बीच के रिश्ते का गणित. उस क्षेत्र के सारे चोर-उचक्के ओमप्रकाश सिंह के चेले-चांटे, और दादागीरी—दीवानों का ओमप्रकाश सिंह का व्यावसायिक लेन-देन. ताला टूटना इसका सूचक था कि बाजार में दूकान सुरक्षित रखनी है तो बीमा कराओ ओमप्रकाश सिंह के यहां.

अच्छी धौंस है. इसकी भी चौथ दो कि दूकान न लुटे. पर, क्योंकि उसे दूकान चलानी थी, जैसे मनोहर चला रहा था, सब चला रहे थे, उसे चौथ देनी पड़ी थी, जैसे सब दे रहे थे.

खद्दर के कुरते-पाजामेवाला लंबा-तगड़ा ओमप्रकाश सिंह उसकी दूकान पर आने-जाने लगा था. और वह भी कभी ओमप्रकाश सिंह तो कभी उसके आदमी को बीमे की किस्तें अदा करने लगा था. कभी देवी जागरण का चंदा, कभी राम बारात का, कभी किसी महापुरुष की जयंती तो कभी किसी नेता या अधिकारी का सम्मान समारोह, कभी किसी के चुनाव कोष के लिए दान! इस बार स्वयं ओमप्रकाश सिंह अपने चुनाव के लिए कोष इकट्ठा कर रहा था. उसका आदमी दूकान पर आकर कह गया था कि इस बार सौ-पचास में

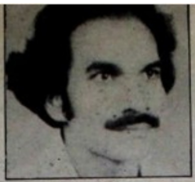

● विभांशु दिव्याल

मामला नहीं टलेगा.

मार्केटिंग इंस्पेक्टर ने वनस्पतिवाले मामले को लटका रखा था. उसे भेंट चढ़ानी थी...

दूकान शुरू की थी तो यही बात थी मन में कि मेहनत और ईमानदारी की दो रोटी मिल जाये, बाल-बच्चे पल-पुस जायें, पर ईमानदारी तो पग-पग पर परीक्षा लेने लगी थी.

मनोहर कहता है, "महात्मा गांधी बनने का ठेका हमने ही ले रखा है क्या? लाला, जो सब करें वो तुम करो. बिना नंबर दो के तो पाल लिए बाल-बच्चे! बस, सवा रुपया हनुमान बाबा के नाम, और सब भला-बुरा उसके खाते..."

मनोहर के साथ वह भी हनुमान मंदिर जाता है. प्रसाद चढ़ाकर कानों को हाथ लगा लेता है... फिर क्या सही, क्या गलत.

उसने मन ही मन पवनसुत को याद किया, हनुमान चालीसा की पंक्तियां दुहराईं. और उसने देखा कि जिस परछाईं से वह डर रहा था, वह एक आवारा गाय थी जो बिजली के एक खंभे के नीचे खड़ी थी.

बिजली के इतने खंभे मगर सब के सब अंधे. किसी पर बल्ब नहीं. यह गली स्याह क्यों रह गयी है? एक यही गली नहीं, इस जैसी न जाने कितनी गलियां... अचानक ही उसे तेल मिल-वाले राजा भैया की कोठी याद हो आयी... वह उनके परिचित की एक सिफारिशी चिट्ठी लेकर अपनी दूकान के लिए तेल का कोटा बंधवाने की बात करने गया था. राजा भैया बाहर से लौटे नहीं थे. वह इंतजार करता रहा था. राजा भैया की महल जैसी कोठी की भव्यता पर मुग्ध होता रहा था. राजा भैया की लंबी कार कोठी में घुसी थी तो औरों के साथ वह भी हाथ जोड़कर खड़ा हो गया था... उस कोठी की जगमगाहट वह कभी नहीं भूला. कितने बल्ब, कितने रंगों के. पर इस गली के अंधेरे और राजा भैया की कोठी की जगमगाहट का क्या रिश्ता? हां, उसके पास कार होती, राजा भैया की तरह, तो उसी की रोशनी से उस अंधेरे को चीरता हुआ घर पहुंच जाता एकदम सुरक्षित.

न जाने कहां से निकलकर एक काली बिल्ली उसके आगे आ गयी, ढिठाई से खड़ी होकर उसे घूरने लगी. भय फिर उसके अंदर फैलने लगा.

यह बिल्ली है या कोई प्रेतात्मा. पास के घर की खिड़की से निकलकर रोशनी का एक धब्बा बिल्ली के ऊपर पड़ रहा था. बिल्ली और भी डरावनी लग रही थी.

"हिश-हिश," उसने आवाज निकाली.

बिल्ली छलांग लगाकर नाली में खो गयी.

रोशनी की पतली लकीर पार करके आगे बढ़ा तो गली और अधिक स्याह हो गयी. उसे लगा सारे शहर में एक षड्यंत्र चल रहा है. स्याह गलियों को और भी अधिक स्याह बनाने का षड्यंत्र. वरना इतने खंभे और किसी पर रोशनी नहीं. कौन फोड़ देता है इन बल्बों को? राजा भैया की कोठी के बल्ब क्यों नहीं फूटते? उसे पोचूमल की बात याद हो आयी...

वह पोचूमल को देखने अस्पताल गया था.

"सांई, देखयां न, वो तीन मैं इकला. थैला छीन्या तो मैंने दिया धिक्का... एक्को पकड़ा तो दूसरे ने चाकू चलाया, विसको पकड़ा तो तीसरे ने चाकू चलाया..." पोचूमल की दोनों बगलों में घाव लगे थे, "सांई, मैं चिल्लाता रहया, एक बी घर से बाहर नईं झांक्का. कौन मदद को आता है जी? थैला छीन ले गये... गली के बल्ब फोड़ देते हैं, कहीं पहचान नईं हो जाय..."

पट्टी बंधा पोचूमल उसे इमर्जेंसी वार्ड के पलंग पर नजर आया. शीघ्र ही पोचूमल की आकृति नदारद हो गयी और उसे वहां अपनी आकृति नजर आने लगी. फिर उसे खूंखार लुटेरों की डरावनी आकृतियां घेरने लगीं—अभी कोई इधर से निकला. कोई उधर से आया. पोचूमल उनके चेहरे नहीं पहचान सका था, वह भी पहचान नहीं सकेगा. उसकी देह से पसीना छूटने लगा. वह तेज चलने लगा...

झटके के साथ उसे होश आया कि वह मनहूस लुटेरी गली पीछे छूट गयी है, और वह अपने मुहल्ले के मुहाने के करीब है.

उसने बांह उठाकर कमीज की आस्तीन से माथे का पसीना पोंछा फिर सामान्य चाल में चलने लगा.

चाकू-छुरेवाली डरावनी आकृतियां जो गली में उसके पीछे दौड़ रही थीं, धीरे-धीरे विलुप्त हो गयीं.

भय मुक्ति के इन क्षणों में एक धारदार ख्याल मन में उगा कि उसके घर और दूकान के बीच पड़नेवाली इस अंधेरी गली में रोशनी होनी ही चाहिए. लेकिन इससे आगे का ख्याल ओमप्रकाश सिंह, वकील साहब, मार्केटिंग इंस्पेक्टर और राजा भैया के चेहरों ने छा लिया. उसे इन सबसे अगले दिन मिलना था. ये सब उसके जाने-पहचाने चेहरे थे, वह अब स्वयं को सुरक्षित महसूस करना चाहता था, पर डर नये सिरे से उसे अपनी गिरफ्त में ले रहा था. □

● ए-71, न्यू शाहगंज, आगरा-14

दृश्य अदृश्य

नरेंद्र निर्मोही

शोषण और शोषित के संदर्भ में आखिर क्यों जरूरी है, यह मालूम करना कि कोई किसी का हक क्यों मारता है और क्यों जरूरी है अपनी-अपनी लड़ाई लड़ने के बजाय एक सांझी लड़ाई लड़ना?—सुदूर अंचल में बसे उन निरापद लोगों की मार्मिक दास्तान, जो आज भूखे पेट और खाली हाथ होने के बावजूद जिंदगी और जुल्म से टक्कर लेने की ठान रहे हैं. इस कहानी के युवा कथाकार की एक कहानी (बुखारी) सारिका सर्वभाषा कहानी प्रतियोगिता के अंतर्गत पुरस्कृत भी हो चुकी है . . .

जिला कचहरी के इतिहास में असपुर गांव के भीमा, बीरापुर के पारसा और मांड के लूनाराम का शायद एकमात्र ऐसा मुकद्दमा था, जिसे निबटाने में मुश्किल से सात-आठ महीने लगे थे.

मुकद्दमा साफ था. बचाव पक्ष का अपना वकील था ही नहीं. जज ने बार-बार सरकारी वकील मुहैया करवाने की बात कही तो लूनाराम ने हामी भर दी. सरकारी वकील की नजरों ने अपने मुवक्किलों को गौर से देखा. लगा, आसामी हैं तो गरीब-गुरबा ही, पर जोड़-तोड़ से कुछ तो हाथ लगेगा ही. मुकद्दमे के कागजात तैयार करवाने तथा मुंशी के पानी-खर्च के लिए सौ रुपये मांगे तो लूना ने पारसा और पारसा ने भीमा की ओर देखा, "साब, अपन तो बरबाद पिरानी छः खीसा में पीसा कोनी."

"कत्ल कै सोच के करयो था?" वकील ने मुवक्किलों से ही जिरह की.

"कत्ल-वत्ल भी सोच के हुवे करैं, साब ?" पारसा भी बिना बोले न रह सका.

उसके बाद सरकारी वकील ने बरायनाम कुछ न कुछ तो किया होगा ! हां, दो तारीखों पर वह हाजिर नहीं हुआ और तीसरी पर वह बेमन से तर्क करता रहा. कुछ कागजों को जज की मेज पर सरकाता रहा, क्योंकि वकील तो मुकद्दमा आदमी की जेब के मुताबिक लड़ता है. जितनी वजनी जेब हो उतनी ही महत्वपूर्ण होती है उसकी जिरह. इसलिए दम था तो बीसा महर के वकील की जिरह में, प्रभाव था तो बीसा महर के तर्कों में. बाकी सब तो 'लोक' था और था उसका 'तंत्र'.

शेर और बकरी का भी भला कोई मुकद्दमा होता है ? शेर की जीत निश्चित थी. सो जीत उसी की हुई. पारसा को पांच बरस, लूना को दस बरस और भीमा को उम्र कैद की सजा सुनायी गयी. वे पुलिस की वैन में सिर झुकाये बैठे थे और बीसा महर दुनाली हाथ में लिये मूछों को ताव देते हुए उन्हें घूर रहे थे. क्योंकि वे कट गये थे अपने से, अपने घर-बार से, खेत से, खलिहान से, दुनिया से, जहान से.

असपुर, बीरापुर और मांड गांवों में जब यह खबर पहुंची तो हवेलियों में शराब की बोतलें खुलीं, मांस भुना, जश्न मनाये गये. पर झोपड़ियों में सुलगती आग धुएं में तबदील हो गयी. पारसा, लूना और भीमा के परिवारों में औरतों ने अपनी किस्मत को कोसा, महरों-सरपंचों को गालियां दीं. मजारों पर मन्नतें मानी, थान पर बलि देने की बात दुहरायी.

गांव के बड़े-बुजुर्गों को बाढ़-सूखा याद आया. याद आयीं चुनावों की सभाएं, कर्जे दिलाने के दिलासे और जिंदगी बदल देने के आश्वासन. जिंदगी बदली, कर्जे मिले और मिली बेदखली, नीलामी, गुलामी और ये तल्ख एहसास कि शेर और बकरी के मामले में बकरी को न्याय न पहले कभी मिला था और न कभी मिलेगा !

करवट तो वो ले जिसकी कोई जिंदगी हो. इसके बावजूद करवट लेने की कोशिश करनेवाले ये लोग कौन हैं—पारसा ? भीमा ? . . . .लूना ? . . .और उधर उन्हें रोकनेवाले—बीसा ? . . काका ? . . .काना ? . . .

बीरापुर गांव का पारसा, फालसा नाई का बेटा. दुर्गी भट्टीवाली का पोता. पांचवीं फेल, बाप ने ता-उम्र महरों की शेव बनायी, बाल काटे, नाखून काटे इस से उस गांव संदेश पहुंचाये. सुबह सवेरे उठा और गयी रात तक महरों की चिलमें भरी. उसने जैसे-तैसे एक झोंपड़ी बनायी थी. पारसा के पैदा होने से कोई पांच-सात महीने पहले. महर ने एक टूटी खाट दी थी पारसा की अम्मा को. अम्मा ने खाट के दो टूटे पायों की जगह, पंचायत घर से चोरी की गयी आठ-दस पक्की ईंटें धर दी थीं, जो आज भी जस की तस धरी पड़ी हैं. पारसा की बीवी ने इसी खाट पर पारसा के छोरे पैंसू को पैदा किया. दस बरस पहले झोंपड़ी फालसा, फसरू और भीमा के चाचा ने मिलकर बांधी थी. पूरे सत्तर रुपये खर्च हुए थे. तब से न कभी पचीस-पचास जुड़े और न ही झोंपड़ी बंधी. खस्ताहाल झोंपड़ी बरसात में चूती है. गर्मियों में सूरज कई कोनों से झांकता हुआ टूटी खाट पर आ बिराजता है. सर्द रात की चांदनी झोंपड़ी पर भी पड़ती है और झोंपड़ी के भीतर दुबककर सोने वाले पारसा, पारसा के बीवी-बच्चों और खांसते-खंखारते फालसा नाई पर भी छिटक जाती है. चूल्हा दिन में एक बार जल जाये तो पारसा भगवान को लाख-लाख शुक्रिया अदा करता है. फालसा का पुश्तैनी धंधा अब रहा नहीं. पारसा छुटपन में ही सरपंच काका के खेतों पर जाने लगा था.

थोड़ा बड़ा हुआ तो पंचायत घर के बाहर संगी-साथियों के साथ गुलाम-बेगम-बादशाह का खेल खेलने लगा. बीड़ी पीना भी चालू कर दिया. चौदह बरस का हुआ तो पंचायत घर से कुछ कदम दूर एक टूटा-फूटा तख्त रखकर चाय बनाने लगा था. खाली समय में पुरसोज आवाज में मिर्जा-साहिबा गाने लगा. दस-बीस दिन खूब रौनक रही. धीरे-धीरे वह सारा समय चाय को देने लगा.

बरसात-धूप से बचने के लिए उसने तख्तपोश के चारों कोनों पर चार सोटियां बांधकर टाट व पल्लियों से तख्तपोश को ढक दिया. कुछ बरस के बाद वह पारू चायवाला हो गया था. इस बीच शादी हुई, बच्चे हुए, बूढ़े-बाप का खांसना-खंखारना बढ़ता गया.

भीमा ! . . . . .असपुर गांव का भीमा. धीसा चमार का बेटा. ठेठ अनपढ़. दस बरस पहले धीसा को दो बीघा बंजर भूमि का सरकारी पट्टा मिला था. फिर भी वे खुश थे. बेहद खुश. पूरी चमरौटी में पहली मर्तबा वे मालिक हुए थे. भूमि दरिया के पास थी. ऊबड़-खाबड़ बंजर थी तो क्या हुआ ? थी तो! धीसा अपने किसी रिश्तेदार से चार-छह दिन के लिए भैंसा ले आया था. बंजर भूमि पर हल चलाते-चलाते उनके हाथों से खून बहने लगता. पांवों में कंकड़ गड़ जाते, कांटें फूट जाते. पांच-सात बरस की मेहनत से उसने जमीन को एक फसल लायक बना लिया था. भीमा बेहद मेहनती और लगनवाला था, पर था थोड़ा अक्खड़. उसका अक्खड़पन गांव के ठाकुरों-बामनों को अखरता था. फिर भी वे एक अदने-से चमार के मुंह लगना अच्छा नहीं समझते थे. उन्हें मलाल था कि बंजर भूमि जो कभी उनके पुरखों की थी, अब उस पर चमार का कब्जा हो गया. भीमा की दो बीघा जमीन अब साल में दो फसलें देने लगी थी. धीसा चल बसा. रह गया अकेला भीमा.

लूना ! . . . मांड गांव का लूनाराम, गनेसी पंडित का छोरा, दसवीं फेल. गनेसी के बाप के पास बीस बीघे जमीन थी. लूना के हिस्से आयी पांच बीघे. लूना जैसे-कैसे पांच बीघे में ही गुजर-बसर कर रहा था. शरीफ, बेहद ईमानदार, अपने हाल में खुश. आधी रोटी खाकर पानी पी लेनेवाला आत्मसंतुष्ट जीव. संत भी कह सकते हैं. तंगी-परेशानी, दुख-तकलीफ में सदा मुस्करानेवाला लूना, तमाम दुख-दर्द को भगवान की देन समझता रहा.

बीसा! . . . बीसा महर, गोपाल शाह का होनहार बेटा. गोपाल शाह के पिता गौरी शाह के पास थी पचास बीघे जमीन. दो पुश्तैनी पक्की हवेलियां. गोपाल ने जब गद्दी छोड़ी तो बीसा के खाते चढ़ी नब्बे बीघे जमीन. तीन हवेलियां, दो ईंट के भट्ठे. पिछले आठ-दस बरस में बीसा महर ने खोल दी हैं चार दुकानें, दो फैक्टरियां और डाल दिये हैं चार ट्रक. जमीन हो गयी एक सौ दस बीघे. दुनिया जहान के कर्जे उठा-उठाकर उन्होंने अपनी मल्कियत में बढ़ोत्तरी कर ली है. कर्जे मिलेगा तो उन्हें, किसी को दिलायेंगे तो ये. उच्चाधिकारी के ठहरने-रहने की व्यवस्था करवायेंगे ये. खातर-सेवा करेंगे ये. जाहिर है मेवा भी यही खायेंगे. बंदूक से पंछी मारते हैं और बंदूक के आतंक से गरीब-गुरबों को.

काका !. सरपंच काका. . . बीसा और काका में कोई खास फर्क नहीं. हां, काका के पास जमीन-जायदाद कम है पर राजनीतिक पकड़ मजबूत है. बीसा का कोई काम काका के सहयोग बिना नहीं होता तो काका की पकड़ भी बीसा के जरिए मजबूत होती है. किसको ठेका देना-दिलाना है, ये तय करते हैं सरपंच काका. काका की विशेषता यह भी है कि वे एक ही सांस में मुद्दई और मुद्दालह दोनों को सही ठहरा सकते हैं. बिना पूजा किये जल तक ग्रहण नहीं करते. पूजा के बाद बकरा भी हलाल करें तो रंज नहीं.

काका ! काका लठैत ! . . . . काका था तो लूना, पारसा का हमजोली पर बोतल का नशा, मांस की महक, औरत की सोहबत उससे कुछ भी करवा सकती थी. वह सुबह आपका हिमायती तो दोपहर में आपके दुश्मन का. सुबह उसकी आत्मा बोलती थी दोपहर में बोतल का नशा. दोगला या दलाल भी कहें तो फर्क नहीं. जिंदगी भर पहलवानी की. आखिरी दिनों में जिंदगी की बागडोर काका, बीसा के हाथों में थमा बैठा. उन्होंने जैसा नचाया वैसा नाचा. उसका अंत हुआ कत्ल के रूप में.

काना के कत्ल केस में ही तो धरे गये हैं लूना, भीमा, पारसा.

इधर पुलिस वैन जा रही है शहर की चौहद्दी से बाहर. वे तीनों घुटनों में सिर दिये सोच रहे हैं. . . अनर्थ हो गया. क्या सचमुच वे कातिल थे? या नहीं थे ? कातिल क्यों ठहराये गये? शायद इसलिए कि वे अपनी वकालत खुद करना नहीं जानते थे या वकील का खर्चा उठा नहीं सकते थे या इसलिए कि उन्होंने एक सपना देख लिया जो उन्हें नहीं देखना चाहिए था? अपनी जिंदगी को बदलने की हसरत पाल लेना इस दौर में महज एक सपना ही तो है ! सपना जो पारसा के बाप फालसा ने बसा दिया पारसा की आंखों में. एक एहसास जिसकी चुभन से कतराता रहा लूना. एक हसरत जो पैदा करता रहा गनेसी पंडित लूना में. एक छलांग जो भीमा लगाना चाहता था बंजर भूमि से उपजाऊ भूमि तक.

बामन ने तो तीन डगों में पूरी धरती नाप ली थी. पर वे बामन नहीं थे, वे तो अपनी हथेली के नीचे की जमीन का सुख चाहते थे.

अपने बाल-बच्चों के लिए छोटे-छोटे सुख कि बीवी को बरस में एकाध जोड़ा नयी धोती-साड़ी जुट जाये. बच्चों को एक जोड़ा कुरता-पाजामा नसीब होता रहे, दो वक्त की रोटी मिल जाये. पर मिला क्या ?

दंड..! अपमान!..फटकार!..ठोकरें!..पुलिस!..कचहरी!.. जेल!..जलावतनी!...धरती करवट ले तो ले पर आदमी की ये मजाल की बीसा महर के सामने सांस लेने की हिमाकत करे. अपने पांवों पर खड़ा होकर सरपंच के वजूद को चुनौती दे, गोंडाराम के न्याय पर उंगली उठाये! भीमा, पारसा, लूना ने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि अपनी टूटी खाट, खस्ताहाल झोंपड़ी की सार-संभाल की बात, महर की किताब में संगीन जुर्म है. जुर्म जिसकी सजा है एक नया जुर्म!

जेल में वे तीनों अब भीमा, पारसा, लूना नहीं, नंबर हैं—कैदी नंबर फलां! चार जरब आठ फुट की कोठरी में हसरतों की हकीकत को परखते-तोलते हुए बाहर शांत, भीतर खौलते हुए. जेल के गलियारों की मरियल पीली रोशनियों को एकटक देखते, यहां-वहां पड़े बीड़ी के टुकड़ों को सुट्टों में बदलते, गाली-गलौज और दोस्ताना लहजे को समझते-परखते हुए.

दूर हल्की पदचाप सुनायी पड़ी. हड़बड़ी मच गयी. कैदी इधर-उधर भागे. मुस्तैदी से किवाड़ों पर ताले ठोकने लगे. लूना, पारसा भीमा फटी निगाहों से देखते रहे. गलियारे में ठक-ठक की आवाज गूंजने लगी. जेलर साहब, मुआयना कर रहे थे. जेलर पारसा के पास से गुजर गया तो पारसा ने अपनी टांग फैलायी, जम्हाई ली और हथेलियों को सिर के नीचे रखकर लेट गया. एक अंधकार छा गया. अंधकार में सोच के घोड़े सरपट दौड़ते हैं. ठहरी जिंदगी में सोच कुछ ज्यादा ही भागती है...

क्या होगा रोशनी का ? गोपी का ? रघुआ का ?.. क्या होगा खेतों का ? कौन बोयेगा ? कौन काटेगा ? कौन रच्छा करेगा जमीन की उन मलेच्छों से ? कौन? आखिर कौन उनके जुल्म रोकेगा ?... बंधी आंखोंवाला तराजू... सत्यमेव जयते या माई लार्ड...?

आदमी रोज-रोज कब तक जलील होता रहे ?... एक हूक उठी. एक जख्म हरा हुआ. क्या किया था उसने ? क्या किया था उन्होंने ?... यही न खस्ताहाल झोंपड़ी को बांधने की इच्छा पाल ली और कर लिया भरोसा अपने हाथों पर. पाल ली हसरत अपने तलवों के नीचे की जमीन को छूकर देख लेने की. चाय ही तो बेची थी. धरम-ईमान तो नहीं बेच दिया था. इज्जत ही बेचनी होती तो जूठे गिलास क्यों धोता! क्यों साफ करता औरों की जूठन! लग्न मेहनत से चाय का धंधा रोटी देने लगा था, पर व्यवहार में बात बिल्कुल विपरीत थी.

"साली, ये चाय है कि मूत !" बिसना पंडित तमक उठता.

"पंडितजी, कोयले झर गये."

"बाप न मारी मेंडकी, बेटा तीरंदाज! नउवे, चाय का धंधा छोड़, बाल काट !"...

"क्यों पारू, बाप ने सक्कर की फैक्टरी खोली है जो इत्ता मीठा गेरता है चाय में"...

"क्यों बे, उधारी में चाय मांग ली तो तेरा गला खुस्क क्यों हो गिया?"...

वह शहर जाता, चीनी-चाय खरीदने तो बच्चे को बिठा जाता तख्तपोश पर. बच्चा जा पहुंचता बच्चों के झुंड में. पारू की बीवी गालियां सटकारती खुद आ बैठती.

"भौजाई, तू ही बिराज अठै... रौनक रहती है." बीवी घूंघट काढ़े सुनती, कुढ़ती, चुप रहती. पारसा भीतर ही भीतर खौलता. चुप रहता; कौन मुंहजोरी करे इन हरामियों से. वह पिच्च-से थूक देता, शायद ही कोई दिन होता जब दो-चार गिलास न टूटते. दस-पांच बार बकबक न होती. बीस-तीस बार मां-बहन की गालियां न सुननी पड़तीं. उसकी तमन्ना होती, इसी वक्त चाय का धंधा छोड़ दे. चाय का तख्त भी रंडी का कोठा लगता, जो जिसके जी में आये बकता है. तिस पर तुर्रा ये कि नकद पैसे कोई-कोई देता. फोकट या उधार की चाय पर जीभ फिरानेवाले बहुतेरे होते.

फिर आये चुनाव के दिन. वह खुश था. चलो इबके धंधा अच्छा होवेगा. कुछ दिन धंधा खूब जोरों पर हुआ. वह भूल गया पीठ पर पड़ती गालियां, तरह-तरह के भद्दे मजाक, क्योंकि गालियों की संख्या कम होने लगी थी और चाय के गिलासों की संख्या बढ़ रही थी. दोनों धड़ों के लोग उसके यहां जुटते. चाय पीते, वोट गिनते, वोट बनाते, जाली वोटों का जोड़-तोड़ बिठाते. अपने-अपने उम्मीदवार को वहीं निर्वाचित घोषित कर देते. वह चाय बनाने में व्यस्त रहता. उसके कान सुनते बीसा महर की वाहवाही, बदनामी. फिर एक दिन हंगामा हो गया. चुनाव से पांच-सात रोज पहले दोनों गुटों में हो गयी भिड़ंत... ठीक वहीं जहां वह चाय बनाता था. एक ने दहकती भट्ठी उलट दी अपने विरोधी पर. फिर क्या था...लाठियां, सरिए, टकुए निकल आये. उसे काटो तो खून नहीं. दोनों गुट उसी के गांव के.

फिर पुलिस, कचहरी, बयान, गवाह. चश्मदीद गवाह था वह. सुबह एक गुट आ धमकता—'हमारी गवाही न दी तो तुम्हें जमीन में गाड़ देंगे.' दोपहर दूसरा गुट मिन्नत करता, 'देख पारू, तू हमारी गवाही दे, तेरी जिंदगी सुधार देंगे. तुझे फोकट में कर्जा दिला देंगे.' मरता क्या न करता ? दे दी गवाही झूठी-सच्ची. विरोधी पार्टी चुनाव में हार गयी पर मुकद्दमा जीत गयी. बीसा महर जीत गया चुनाव और काना लठैत आ बैठा उसकी छाती पर, "नउवे, और दे गवाही उन हरामियों की. क्या उखाड़ लिया हमारा ?" वह जानबूझकर गिलास तोड़ देता. गालियां बकता. उसकी जोरू के साथ भद्दे मजाक करता. जीना हराम हो गया उसका. वह किसी धड़े में नहीं था. फिर भी बीसा महर की सूची में उसका नंबर पहला था.

लूना, भीमा, पारसा आदि कैदियों का न कोई वर्तमान है, न भविष्य. बस पुरानी यादें हैं जिसे जिंदगी भर यूं ही फैलाते-समेटते रहना है ताकि रात कट जाये. लूना, भीमा, पारसा को जो भी मिला वह विरासत के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी पुश्तैनी कर्ज की तरह है. हां, हरेक के अनुभव अपने-अपने हैं जिनमें हर रोज कुछ बढ़ोत्तरी होती रहती है. तल्ख एहसास. एक घूंट पानी की तमन्ना...एक जोड़ा जूती का जुगाड़. रंबे-खुरपे-दरांती की जरूरत. मौसम-बेमौसम चटनी, प्याज की महक...ठंडी-बासी रोटी के टुकड़ों के लिए जमीन गिरवी रखते चले आने की बात नयी तो नहीं है पर इंच-इंच करके हाथ से खिसकती धरती के साथ-साथ बढ़ता चला जाता है कर्ज का बोझ. झुकती जाती कमर, मिटती जाती है कमर और पेट की असल पहचान!

पारसा, लूना, भीमा नहीं जानते कि संघर्ष क्या है? क्यों है? किसलिए है? लोकतंत्र क्या है? चुनाव क्या है? क्यों है? किसके लिए है? पर वे बखूबी जानते हैं कि जिसकी लाठी हो भैंस उसी की होती है. गांव में धरती ही ताकत होती है. सो धरती से उनका नाभि-नाल का रिश्ता है. वे समझते हैं कि शहरी भाषा में, कानून की भाषा में कुर्सी की अपनी महिमा होती है. वे मेहनत पर भाषण नहीं सुनते. वे धरती, बैल, भैंस, खाद, बीज के जुगाड़ में ही बाढ़, अकाल, सूखे को अपनी नंगी छाती पर झेलते-झेलते एक दिन धरती से बेदखल होने की नौबत तक आ पहुंचते हैं. बचपन के दूधिया दांत न जाने किस खेत की मेड़ पर हल के फाले के नीचे दब जाते हैं. जवानी की जी-तोड़ मेहनत को अधेड़ उम्र की अनुभवी आंखें जानती-परखती तो खूब हैं पर बुढ़ापे तक पहुंचते-पहुंचते धरती की बेदखली के साथ-साथ पथरा जाती है. बाल सब-से सफेद हो जाते हैं और कर्ज की लकड़ियों की आंच उन्हें राख में बदल देती है. और उनका बेटा खुरदरी उंगलियों में डाभ (कुश, घास की बनी अंगूठी) पहन पूजा-पाठ-श्राद्ध के नाम पर अपनी जिंदगी ही होम कर डालता है.

"लूना...ओ...लूना!" भीमा ने दूर से पुकारा.

"कै है?" कहते हुए लूना बंगले के पास आ गया.

"लें..." कहते हुए भीमा ने लूना की तरफ बीड़ी का बंडल बढ़ा दिया और लूना ने तुरत बंडल कहीं छुपा दिया.

"संतरी भलोमानस ह. मैं बोल्यो—भाया थोड़ी वस्त खातर लूना सूं बातां कर ल्यूं. बोल्यो—जा, पन साब को बेरो न पड़े."

"लूना!"

"हूं"

"म्हें तो अठै हैं. टाबर का के होसी!"

"म्हे तो सगला बरबाद हो गये!" कहते-कहते लूना का गला भर आया.

भीमा ने लूना का हाथ अपने हाथ में लेना चाहा किंतु हाथ ठिठक गया—रे...वह तो चमार है! लूना ठहरा पंडित... उसने लूना को निहारा. कुछ पल खामोशी छा गयी. लूना ने आंखें मलीं. खुरदरे चेहरे पर खुरदरे हाथ फिराते-फिराते लूना के हाथ माथे के जख्म तक जा पहुंचे. पूरे बदन पर लाठियों के गहरे काले निशान! पिटते-पिटते भी बीसा महर से नीलामी रोक देने की गुहार! सरपंच काका की मिन्नत-खुशामद करती उसकी बीवी, गोंडा राम के खेतों में खटते उसके बच्चों को धकियाता काना लठैत...गाज की तरह गिरी थी नीलामी की आखिरी बोली. कानों को ढक लिया था जख्मी हाथों से...बेदखली के डंक से अपने-आपको बचाने की खातिर...पर कहां रुका... कुछ भी!

जगह-जगह मिमियाया लूना. जहां-तहां फरियाद की अर्जियां दीं. पुलिस-थाने एड़ियां रगड़ी...तिस पर वही फटकार...बदन पर झेलीं काने लठैत की लाठियां. बीसा के छोरों के बदरंग बाण—'ले खा अब पूरी रोटी...पी भैंस का दूध...पहर जूती...कर पंचायत... जा डी.सी. के दफ्तर...साले...अच्छा-खासा पैसा दे रहे थे... अब ले ठेंगा!'

आज भी यहीं आकर सारी सोच चुक जाती है. दरअसल, लूना के पास पांच बीघे जमीन थी. एक तोकड़ भैंस, एक मरियल बैल, एक हल, एक पंजाली. रहने के लिए बाप के बाप के दादा का पुश्तैनी झोंपड़ा जिसके एक सिरे से सरकंडे सरके तो सरकते ही गये. उस हिस्से पर रख दिया था जंग लगा टिन का पत्तर.

हर फसल पर जैसे-तैसे अपना मरियल बैल देकर किसी दूसरे का लेकर बोआई कर लेता था. आधी रोटी तो बाढ़, अकाल, सूखे और पंचायत के चंदे के बावजूद पैदा कर ही लेता था. बीसा और काका की जमीन का विस्तार हर फसल पर ही हो जाता था. गिरवो रखी जमीन वे छोड़ते नहीं थे और चंद सिक्के उछाल वे छोटे-मोटे काश्तकारों को सब्जबाग दिखाकर उनकी जमीन हड़प लेते थे. उसकी दो बीघा जमीन बीसा महर की जमीन के साथ लगती थी. जो बीसा महर ने मार्देबंदी में अपने लिए लेकर उसे चार बीघे जमीन कहीं और दे दी थी.

"पंडित." बीसा महर ने कहा था, "एक काम कर."

"कहो मालिक!" कहते-कहते लूना थोड़ा झुका और एक कदम आगे बढ़ गया.

"पंपसैट खरीद ले."

"मालिक, मैं और पंपसैट?" लूना फटी निगाहों से महर को ताकता रह गया, "मालिक, रोटी का जुगाड़ तो होता नहीं. पंपसैट के लिए पैसा?"

"कर्जे दिला देंगे."

"सच...?" एकबारगी लूना मन ही मन झूम गया.

बीसा महर चला गया और थमा गया लूना को एक सपना—कुआं खुद जाये, पंपसैट लग जाये, एक फसल अच्छी हो जाये तो बस सुधर गयी उसकी जिंदगी.

कुएं और पंपसैट के सपने ने उसे दौड़ाया. जहां-तहां. बीसा महर की हवेली. सरपंच काका का पंचायत घर. गोंडाराम का बाड़ा, मैनेजर का घर, बैंक, बी.डी.ओ. का दफ्तर...डी. आर.डी.एस. का मुख्यालय. कहां-कहां नहीं गया वह. छह-आठ महीने की भागदौड़ के बाद कहीं जाकर बात सिरे चढ़ी कर्ज लेने की और इस बीच इस-उसका किराया खर्च करने, पटवारी को खुश करने में एक फसल बेकार हो गयी. बीवी की पाजेबें बिक गयीं. फिर भी खुश था वह कि अब उसकी जिंदगी सुधर जायेगी! और जिंदगी इतनी सुधरी कि वह जेल के सीखचों को दिन में एक बार नहीं, कई-कई बार गिनता है. देखता है ऊपर आसमान की तरफ. गांव की तरफ. घर की तरफ.

● नरेंद्र निर्मोही

"अच्छा, भाया चलता हूं." कहते हुए भीमा लूना की कोठरी से लौट आया. छोड़ गया लूना को अकेला.

कर्ज लेकर लगाया था पंपसैट, जिसकी खरीद का हक छीन लिया था बीसा महर ने. अनुदान राशि डकार गये सब मिलकर—बैंक मैनेजर, बीसा महर, सरपंच काका, बी.डी.ओ. और बिजली-सिंचाईवाले. उस गरीब को कहां मालूम था कि बीसा महर ने क्यों बंदूक की भाषा छोड़ी? क्यों सोचा उसका भला? पर जब भेद खुला, पंपसैट खराब हो गया था. कई बार शहर से जाकर ठीक करवाया. कुआं सूख गया. कर्ज का पहाड़ प्रतिदिन बढ़ता गया. रो-धोकर छह-आठ किस्तें जमा की थीं पर जब भी बैंक जाता कर्ज पहले से बड़ा हुआ होता.

फिर कार्यवाही शुरू हुई. कर्जा पटाने के तकाजे पर तकाजे आने लगे. बीसा महर की धमकियां मिलने लगीं—'कर्जा पटा दो वर्ना हश्र बुरा होगा.' अब वह कानूनी कार्यवाही रुकवाने के लिए दौड़ा. जहां-तहां दुखड़ा रोआ. वकीलों के पांव पकड़े. मुंशी की जी-हुजूरी की और जज के आगे मिन्नतें. पर लूना के पांव उखड़े तो उखड़ते ही गये. घर में बीवी-टाबर का रोना, बाहर कर्ज का भार... बिक गया मरियल बैल, टूट गयी पंजाली, भोंथरी हो गयी दरांती... भागा शहर... विधायक के पास. बैरंग लौटा. नीलामी के दिन तो पगला ही गया. ज्योंही पुलिस गांव की चौहद्दी से बाहर हुई... वह हाथ में दरांती-पल्ली लिये फिर जा धमका अपने खेत पर. निपट अकेला. फिर पहुंचा भीमा, फिर पारसा, फिर भीड़!... भीमा के सिर पर वार हुआ... पीछे मुड़कर देखा... काना लठैत, रग्घू कुम्हार के साथ खड़े थे बीसा महर, महर के छोरे, सरपंच काका... काना लठैत हाथ में गंडासा लिये हुए था. रग्घू के हाथ में टकुआ था, "ओ नउवे, अठै मां दाबन खातर आयड़ो."

"पहलवान, थारी जुबान संभालो!" पारसा बोल उठा.

"अबे ओ चमार की औलाद...अठै के मरे हैं?" सरपंच काका ने भी मौका ठेलते हुए कहा. उस समय भीमा खेत में से घास-फूस निकाल रहा था. भीमा चुप रहा. तिरछी आंखों से उसने सरपंच को घूरा.

वे सब खेत में लगा पंपसैट खोलने लगे.

"सब कुछ म्हारो है." बीसा का छोरा चमका.

"नीलामी जमीन की हुई है...पंपसैट की नहीं." लूना फुफकारा.

"कै बोल्यो? फिर न बोल." लूना के पास आते हुए गोंडाराम तमतमाया.

"पंपसैट मेरो है."

"तेरो है? तो ये ले फंफूद की औलाद!" कहते हुए रग्घू ने पंपसैट को जोर से ठेला और कुएं में पटक दिया.

लूना ने पत्थर उठाया और दे मारा रग्घू की कनपटी पर.

"ओ... मां!"... चिल्लाता रग्घू वहीं गिर पड़ा.

लूना भागा. पारसा दौड़ा. मीमा ने उठा लिया रग्घू का टकुआ. लूना का पीछा करता पहलवान ठिठक गया वरना लूना तो उसी रोज ढेर हो गया होता.

आज सुबह उनकी जेल में हाजिरी हुई. तीनों को फिर मौका मिला कहने-सुनने का. आज उन्होंने बातें की साथी कैदियों के बारे में, उन्हें लगता कि वे बहुत बड़ी दुनिया में आ पहुंचे हैं. एक ऐसी दुनिया जो अपराध और अपराधी के नाम से जानी जाती है. तरह-तरह के अपराधी, तरह-तरह के अपराध.

अपराधी जो चेहरों से ही पहचाने जा सकते हैं. अपराधी जिनके चेहरे सहज व आत्मीय लगते हैं. ऐसा ही है 36 नंबर भी... मसें अभी भीगी नहीं कि आ पहुंचा है जेल में. चुप्प रहता है. कभी बीड़ी फूंकता है तो कभी ठाठ से फिल्टर सिगरेट के कश पर कश! कभी छत की कड़ियां गिनता है तो कभी कोई किताब पढ़ता है. मन होता है तो कर लेता है पांच-दस मिनट किसी से बातचीत.

36 नंबर की हर हरकत मीमा को खींच लेती है अपनी ओर. क्या किया होगा इसने? मीमा पानी पी रहा था तो सहसा आ खड़ा हुआ 36 नंबर उसके पीछे. मीमा ने कोहनियों से पानी साफ किया तो कुछ बूंदें 36 नंबर के चेहरे पर जा गिरीं. मीमा झिझका. 36 नं धीमे-धीमे मुस्कराया. मीमा खिल गया. उसे लगा जैसा वह सोच रहा है, ठीक वैसा ही है 36 नंबर. भोला, प्यारा, छोटे-भाई-सा. 36 नंबर पानी पीने के बाद खुले मैदान की ओर हो लिया तो मीमा भी बेमतलब उधर ही चल दिया. उसके दिमाग में 62 नंबर की बात उमड़-घुमड़ रही थी कि 36 नंबर ने चार कत्ल किये थे, गोली चलायी थी. मोरचा लिया था. मौका मिलते ही मीमा ने 36 नंबर को पूछा, "क्यों भाया, तैं कै करयो जो जेल मिली?"

"मतलब? युवक ने उत्तेजना अथवा भाव प्रगट किये बिना कहा.

"यही कि तनै कत्ल करयो? ...मारपीट? ...चोरी-चकारी, डाका-डकैती? ...बलात्कार-बदचलनी? ...तस्करी... जासूसी?

"नहीं."

"के करयो तनैं?"

"तूने क्या किया?" युवक अर्थात् 36 नंबर ने प्रतिप्रश्न किया.

मीमा अचकचा गया. फिर संभला. सिर को आगे की ओर लाते हुए कहा, "सच बोलूं?"

"हां."

"कत्ल हो गया!"

"क्यों?"

"बस, नहीं रहा काबू अपने पर. सबर की भी हद होती है."

"क्या हुआ था?" 36 नंबर के व्यवहार में नरमी आ गयी.

"क्या नहीं हुआ! ... मेरा झोंपड़ा जला, बस्ती लुटी ... बेटी ठाकुरों की हवस का शिकार हुई, सरकारी पट्टे की जमीन छीन ली गयी."

"किसने किया यह सब?"

"पैसेवालों ने, जमीनवालों ने और पंचायतवालों ने."

"क्यों किया?"

"मैं गरीब था ... मेहनतकश था ... चमार था."

"तूने मारा किसको?"

"काने पहलवान को."

"वो कौन था?"

"पारसा का पड़ोसी."

"कौन पारसा?"

"46 नंबर. उसने जख्मी किया था लूना को."

"कौन लूना?"

"58 नंबर."

युवक उर्फ 36 नंबर उर्फ सुबोध, मीमा से तरह-तरह के सवाल पूछता रहा.

मीमा बताता रहा... लूना के बारे में... जिक्र करता रहा पारसा का, अपने गांव का... गांव के एक-एक आदमी का... महरों के जुल्म का... सरपंच के काईयांपन का... गिरती दीवारों का... बैंक मैनेजर का... विधायक का... अदालत का... सरकारी विभागों का.

पहले कुछ अरसे तक घरवाले आते रहे. मुलाकात करते. सुनाते रहे किस्से महरों के बढ़ते जाते जुल्म के. हर मुलाकात मीमा को परेशान कर देती. दरअसल, पहले वह अपने-आपको दोषी मानता था कि क्यों आवेश में मार बैठा काने पहलवान को? क्यों नहीं सह लिया जोर-जबर औरों की तरह? मगर सुबोध की सोहबत में आने के बाद मीमा के मन से अपराधबोध कम होता जा रहा था. मीमा, पारसा और लूना के बीच सुबोध आकर्षण बढ़ता जा रहा था, चूंकि वह उनकी हर शंका तकलीफ को हमदर्दी से सुनता था. उस दिन तो मीमा ने हैरानी से उसे देखा था, जब उसने कहा था, "मीमा, कत्ल तूने नहीं किया ... वो तो सिर्फ हाथ तेरे थे... कत्ल तो बीसा ने किया था."

"कैसे?"

"तेरी काने पहलवान से कोई दुश्मनी थी?"

"नहीं तो."

"लूना का पहलवान से कोई झगड़ा था या पारसा, बीसा महर से दुश्मनी मोल लेना चाहता था?"

"नहीं."

"क्या कर्जा लौटाना नहीं चाहता था लूना?"

"चाहता था."

"पर लठैत किसने पाले?'

"बीसा महर ने."

"क्यों पाले?"

"ताकि उसका दबदबा बना रहे."

"किसने भड़काया बीसा महर को?"

"काका सरपंच ने."

"क्यों?"

"ताकि वह बीसा का हिमायती बना रहकर चुनाव जीत ले."

"किसने दुश्मनी पैदा की? ... क्यों पैदा की?"

"मालूम नहीं कामरेड!" कहकर मीमा चुप हो गया.

"मीमा, यही मालूम करना जरूरी है कि कोई किसी का हक क्यों छीनता है? हमले का जवाब देना क्यों जरूरी है? क्यों जरूरी है अपनी-अपनी लड़ाई लड़ने के बजाय एक सांझी लड़ाई लड़ना!"

दिन, महीने और बरस बीते. एक दिन सुना, पुलिस ने सुबोध को मुठभेड़ के नाम पर गोली से उड़ा दिया. मीमा ने मुट्ठियां भींचीं, लूना ने हथेली को परखा. पारसा की आंखों में खून उतर आया और उस दिन उन्हें खुद ही महसूस हुआ कि क्यों जरूरी है... 'उनके' लिए सुबोध को मारना? ... क्यों जरूरी है... 'हमारे' लिए सुबोध को जिंदा रखना? ... और क्यों जरूरी है... इस अघोषित लड़ाई के तेवरों को समझना!

मीमा-पारसा-लूना कितना समझ पाये, इसका पता तभी चलेगा, जब फिर मुठभेड़ होगी और फिर किसी की कुर्की के आदेश पहुंचेंगे गांव में किसी की दहलीज पर... □

● राजभाषा अधिकारी, बैंक ऑफ बड़ौदा, सी-स्कीम, जयपुर-302001

मिन्ना तुम लौट आओ

अनीता मनोचा

ऐसा क्या था मिन्ना में कि विदेश से शिक्षा प्राप्त करके लौटने के बाद उसे कोई भी पुरुष अपने योग्य नजर नहीं आता था? इसके बावजूद ऐसा कौन-सा आकर्षण देखा सुकेश ने मिन्ना में कि वह उसके इंतजार में कुंवारा ही बैठा रहा? यह आकर्षण-विकर्षण किस मुकाम पर ले गया उन दोनों को? बताती एक मार्मिक कथा—

टैक्सी एक झटके के साथ उस विशाल बंगले के सामने आकर रुकी. सुकेश ने एक निगाह फूलों से महकते हरे-भरे लॉन पर डाली. एक बचकाना-सा हठ, मिन्ना को हमेशा की तरह लॉन में घूमते देखने का, तीव्रता से मन में सिर उठाये खड़ा हो गया और फिर उतनी ही तीव्रता से किसी धमकाये बच्चे-सा सहमकर बैठ भी गया. थकन एवं तनाव से टूटते तन-मन से सुकेश ने अपना सूटकेस उठाया और बजरी को तेजी से रौंदता हुआ घर की ओर चल दिया. दरवाजे के सामने पहुंचकर एक गहरी सांस सीने में भरने के बाद उसने एक बार इधर-उधर देखा और फिर कॉल-बेल पर हाथ रख दिया. अगले ही पल दरवाजा खुला. खोलने वाली आगंतुक को देखते ही 'दादा' कहकर उससे लिपट गयी और फूट-फूटकर रो उठी. कितने ही पल दोनों उसी मुद्रा में खड़े रहे और फिर सुकेश ने हल्के से थपथपाकर इनू को अपने से अलग किया. इनू ने अपनी हथेलियों से पलकें सुखाते हुए सुकेश के हाथ से सामान थाम लिया और दोनों भीतर चले गये. तब तक अनिल भी चिकी को गोद में उठाये भीतर आ गये थे और इनू पर बरसने लगे थे कि आते ही सुकेश को परेशान कर दिया. इनू की रो-रोकर लाल हुई आंखों ने एक गहरा उलाहना भरकर अपने पति की ओर देखा और फिर चुपचाप कमरे से बाहर चली गयी. अनिल व सुकेश के मध्य सन्नाटा पूर्ववत् बना रहा. कुछ ही पल बाद इनू के साथ हाथ में पानी का गिलास थामे लौटा बहादुर, जो बचपन से इसी घर में नौकर था. सुकेश ने उसके हाथ से पानी लेकर एक ही सांस में गले से नीचे उतार लिया और गिलास वापस देते हुए बहादुर के कंधे पर हाथ रख, मद्धम स्वर में पूछने लगा, "कैसे हो बहादुर?" उसके इतना कहते ही बहादुर कटे पेड़-सा उसके पांव पर गिर पड़ा.

रुदन के आवेग से उसका सारा शरीर किसी पत्ते-सा कांप रहा था और हिचकियों-सिसकियों के मध्य एक ही स्वर अस्पष्ट-सा उभर रहा था, "साहब, आप बहुत देर से आये." मिन्ना ने इधर कुछ दिनों में अपने पिता द्वारा नियुक्त सभी नौकरों को एक-एक कर निकाल दिया था. केवल बहादुर ही अंतिम समय तक उसके साथ रहा था, उसकी हर आवश्यकता को पूरा करने में तत्पर. सुकेश ने बहादुर की दशा देखकर अपनी आंखें कसकर बंद कर लीं, ढीठ आंसुओं की धार गालों से बहकर बहादुर के बालों को भिगोती चली गयी. आंखों में जैसे कुछ जल रहा था, जिसे सहन कर पाना संभव नहीं था. सुकेश ने इस जलन से घबराकर आंखें खोलकर दृष्टि इनू के चेहरे पर जमा दी. उस करुणा भरी दृष्टि में एक ही प्रश्न सागर की हजार-हजार तरंगों-सा लहरा रहा था... 'कैसे हो गया ये सब... कैसे! कैसे!! कैसे!!!' पर इनू की वाणी मौन थी. इनू के पीछे-पीछे नींद में चलता-सा सुकेश हॉल से निकलकर मिन्ना के शयन कक्ष में पहुंचा. हल्के नीले रंग के पेंट तथा नीले पर्दों से सजा-संवरा कमरा गुमसुम-सा पड़ा था. पर्दों और दीवारों से हटकर दृष्टि कमरे के फर्श पर आन पड़ी. कमरा नितांत खाली था. कालीन, डबल बैड, ड्रैसिंग टेबल, कॉर्नर टेबल—कहीं कुछ नहीं था. बस, एक कोने में दीवार के साथ एक नन्हा-सा दीया चुप-चाप जल रहा था और उसकी कांपती हुई लौ रह-रहकर याद दिला रही थी—'मिन्ना नहीं है.. मिन्ना नहीं है...'

सुकेश की आंखों में पीड़ा का सैलाब उमड़ आया. वह वहीं दीवार से टेक लगाकर बैठ गया. 'यहीं, इसी जगह मिन्ना का शरीर...' नहीं, इससे आगे नहीं सोच पाता सुकेश. चिकी किसी अजाने भय से चीख-चीखकर रो रही है. अनिल उसे बहलाने कमरे से बाहर ले गये है. सुकेश का भी मन चाहता है बचपन में लौट जाने को. एक बार, बस एक बार चीख-चीखकर रो लेने को... पर हाय नसीब! उसे इसका भी हक नहीं. अपने भीतर उमड़ते सवालों की घुटन से घबराकर वह इनू की ओर तड़पकर देख उठता है. उसके हाथ कसकर थाम, उसे झिझोड़ देता है, "क्या हुआ इनू ये, कहो तो, कैसे हो गया?" इनू की आंखें लगातार बरस रही हैं. रुंधे कंठ से आंसुओं के आवेग को रोकने का प्रयास करते हुए जो कुछ कह पाती है वह, उसका सार यही निकलता है कि मिन्ना पिछले कुछ दिनों से बेहद परेशान थी, एकदम गुमसुम-सी हो गयी थी, किसी से बात तक नहीं करती थी. बस गुमसुम दीवारें देखा करती. चिकी को भी अपने पास नहीं बुलाती थी. रात-रात भर जागकर टहला करती. उस रात जो सोयी तो गयी सुबह तक दरवाजा नहीं खोला. बहादुर घबराया हुआ इनू के पास गया. अनिल ने आकर किसी तरह दरवाजा खुलवाया तो देखा, मिन्ना अपने पलंग पर निर्जीव पड़ी थी. नीचे फर्श पर पड़ी नींद की गोलियों की खाली शीशी पिछली रात की कहानी कह रही थी. "पर क्यों इनू, क्यों उसने ऐसा किया, क्या मुझ पर से विश्वास उठ गया था उसका... मैं तो उसके लिए ही..." शेष शब्द सुकेश के गले के आवेग में डूबकर रह गये. इनू, सुकेश की मनःस्थिति समझ पा रही थी. उसके इतने दिनों के संघर्ष, मानसिक व शारीरिक यंत्रणा की एकमात्र साक्षी थी वह, उसके हर तनाव की एकमात्र राजदार, जो बात किसी से नहीं कह पाता था सुकेश, वह इनू से जरूर कह देता. उसी सुकेश की इस समय की मनःस्थिति को इनू से बेहतर कौन जान सकता था... तभी तो दीदी का सुकेश के नाम छोड़ा पत्र इस समय वह छिपा गयी थी. क्या जाने क्या लिखा हो उन्होंने... इस हालत में सुकेश न जाने क्या कर बैठे... सुकेश से कुछ खा लेने को कहा इनू ने, पर उसने दृढ़ता से मना कर दिया. चिकी अभी तक रो रही थी. इनू ने एक बार फिर हिचकिचाते हुए सुकेश से उस घर में चलकर कुछ खाने को कहना चाहा, पर उसकी स्थिति देखकर रुक गयी. केवल इतना ही कह पायी, "मैं मां और अनिल को खाना देकर और चिकी को सुलाकर आती हूं. आप क्या यहीं बैठेंगे?"

"हां, मैं यहीं हूं. मुझे कुछ देर एकांत चाहिए, तुम जाओ." और इनू एक पल ठिठककर बहादुर को कुछ खिलाने के लिए साथ लेती हुई बाहर चली गयी. बाहर गहराते अंधेरे तथा भीतर जलते दीये की मद्धम लौ के मध्य अतीत की परछाइयों ने सुकेश को चारों ओर से घेर लिया.

मिन्ना से सुकेश का परिचय उस दिन हुआ था, जब वह विदेश से अपनी शिक्षा पूरी करके लौटी थी और अपने पिता के साथ उनकी उस फैक्ट्री का दौरा करने आयी थी, जहां सुकेश काम करता था. बहुत मेहनती, बुद्धिमान, निरंतर नया कुछ सीखने व कर दिखाने को उद्यत इस जरूरतमंद परंतु स्वाभिमानी नवयुवक पर उसके पिता का अत्यंत स्नेह था. जितना वह कुछ बन पाने का इच्छुक था, उससे कहीं अधिक इच्छा मिन्ना के पिता की उसे कुछ बनता देख पाने की थी. वहीं उस फैक्ट्री में सर्वप्रथम मिन्ना एवं सुकेश का परिचय हुआ, परंतु यह परिचय अत्यंत साधारण-सा था. मिन्ना के पिता अखिलेश्वर शर्मा उस शहर के गणमान्य उद्योगपतियों में से एक थे. उनकी पत्नी का एक अर्सा हुआ देहांत हो चुका था. केवल दो पुत्रियां थी उनके, बड़ी मिन्ना और उससे दो वर्ष छोटी इनू. मिन्ना बचपन से ही जितनी तीक्ष्ण बुद्धि की, बहिर्मुखी स्वभाव की थी, इनू उतनी ही कोमल, अंतर्मुखी व स्वप्नजीवी थी. यही कारण था कि मिन्ना की रुचि के अनुसार उसे उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु अखिलेश्वर ने विदेश जाने की अनुमति दे दी और इनू का योग्य वर ढूंढकर मिन्ना से पूर्व ही विवाह कर दिया. मातृहीन पुत्रियों के उचित लालन-पालन हेतु अखिलेश्वर ने न केवल पिता, वरन मां की भूमिका भी निभायी थी और अपने अत्यंत व्यस्त जीवन से भरपूर समय उन्हें दिया था. उनकी इच्छा अखिलेश्वर के लिए सर्वोपरि थी, उनकी खुशी में ही वह खुश रहते थे. सौभाग्य से मिन्ना और इनू दोनों ही अपने-अपने स्थान पर अत्यंत प्रसन्न थी. मिन्ना ने विदेश से लौटकर पिता के व्यवसाय में सहायता करना आरंभ कर दिया था. उसके व्यक्तित्व की दृढ़ता व स्वतंत्र विचार प्रणाली कभी-कभी अखिलेश्वर को अत्यंत चिंतित बना जाते. हठधर्मिता तो उसके स्वभाव में बचपन से ही थी, पर विदेश से लौटने के बाद से तो उसका स्वयं पर विश्वास कुछ अधिक ही बढ़ गया था. अपने विचारों को सर्वोपरि रखना, महत्त्वपूर्ण बातों के निर्णय स्वयं लेकर उसी के अनुरूप कार्य करना उसका स्वभाव बन गया था. अखिलेश्वर कभी उससे विवाह की बात कहते तो वह हंसकर टाल जाती. विवाह को वह जीवन की स्वतंत्रता पर निरर्थक अंकुश के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानती थी, उसके ऐसे विचारों के कारण ही उसकी मित्रता का दायरा केवल कुछ विदेशियों तक ही सीमित था, जिनसे उसकी पहचान अपने विदेश में रहने के समय में हुई थी. अखिलेश्वर कभी उससे कुछ कहना भी चाहते, परंतु उनका दृढ़ व्यक्तित्व व स्वयं पर उचित नियंत्रण देख शांत रह जाते.

उन्हीं दिनों अखिलेश्वर को दिल का पहला गंभीर दौरा पड़ा. अटैक इतना जबरदस्त था कि सारा परिवार स्तब्ध रह गया. अखिलेश्वर को जैसे दूसरा जन्म मिला हो, पर इस दौरे से स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था कि बिस्तर पर पड़े रहने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था. उन दिनों सुकेश का घर आना-जाना बढ़ता गया. उस घर में सभी उसे बहुत पसंद करते थे. अखिलेश्वर का चहेता तो था ही वह, इनू और अनिल से भी उसके घनिष्ठ संबंध हो गये थे. और तो और, बहादुर भी उसे परिवार के सदस्य का-सा ही आदर देता था. इनू अपने पति के साथ पिता से मिले बंगले में उनके पड़ोस ही में रहती थी. अनिल का अपना छोटा-सा स्वतंत्र व्यवसाय था. अत्यंत सुलझे व्यक्तित्व व मृदु स्वभाव वाले अपने पति के साथ इनू अत्यंत सुखी थी, परंतु उसकी छोटी-सी गृहस्थी का यह सुख भी मिन्ना के हृदय में कोई इच्छा नहीं जगाता था. उधर अखिलेश्वर का स्वास्थ्य दिन-पर-दिन गिरता जा रहा था. मिन्ना के प्रति उनकी चिंता और भी बढ़ती गयी. कभी जो एक अंकुर उनके हृदय में मिन्ना के प्रति चिंता का फूटा था, वह अब जीवन के अवसान पर आकर वृक्ष का रूप धारण कर गया. वे अपने जीवन-काल में ही मिन्ना के लिए

कोई ऐसा जीवनसाथी चुन लेना चाहते थे, जो उसका पति ही नहीं, संरक्षक भी बन सके, उसके उद्दंड स्वभाव को धीर-गंभीर होकर धीरे-धीरे नियंत्रण में ला सके, उस स्वतंत्र व्यक्तित्व को सही रूप में विकसित होने देने का जिसमें धैर्य हो. और उन सब गुणों से युक्त एकमात्र योग्य व्यक्ति उन्हें सुकेश ही जान पड़ा.

चिकित्सकों के निरंतर प्रयास के बावजूद अखिलेश्वर के स्वास्थ्य में सुधार नहीं हो रहा था. अंततः एक दिन मिन्ना को बुलाकर उन्होंने उस पर अपनी इच्छा व्यक्त कर दी. सुकेश पर तो उन्हें दृढ़ विश्वास था ही कि वह उनकी बात कभी टालेगा नहीं. मिन्ना पिता की बात सुनकर हतप्रभ रह गयी, पिता ने उसके लिए ऐसा सोचा भी कैसे! वह तो सुकेश को पिता के सैकड़ों कर्मचारियों में से एक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मानती थी. पर पिता की आंखों से छलकती याचना, उनके कांपते होंठों का स्वर और उसके पीछे छिपी आशा की हल्की-सी अंतर्ध्वनि ने मिन्ना के अस्वीकार को उसके गले में ही घोंट दिया. कुछ भी नहीं कह पायी वह. यही सोचकर मौन रह गयी कि जब पिता ठीक हो जायेंगे, तब वह बात कर लेगी उनसे. और अखिलेश्वर ने उसके मौन को ही उसकी स्वीकृति समझकर अगले ही दिन एक सादे-से चुपचाप समारोह में उनकी सगाई का ऐलान कर दिया. पिता की ऐसी स्थिति में उनका मन तोड़ना मिन्ना के कठोर व्यक्तित्व के लिए भी संभव नहीं हो पाया, और उसके तीसरे दिन ही अखिलेश्वर का देहांत हो गया. सुकेश मिन्ना से इतना भी नहीं पूछ पाया कि ये जो कुछ हो गया, उसमें उसकी अपनी इच्छा भी थी या नहीं.

उधर पिता की मृत्यु के शोक से थोड़ा उबरने के पश्चात् मिन्ना के समक्ष जो सबसे बड़ी समस्या थी कि अपने पिता की अंतिम इच्छा का क्या करे! अपने ही यहां के एक कर्मचारी से विवाह की बात किसी तरह भी उसकी समझ में नहीं आती थी. अंततः उसने सुकेश को बुलाकर स्पष्ट रूप से कह दिया कि विवाह करने की उसकी कोई इच्छा नहीं थी. हां, यदि कभी ऐसी इच्छा हुई उसकी तो पिता की अंतिम इच्छा का सम्मान वह अवश्य करना चाहेगी, यदि सुकेश तब तक उसकी प्रतीक्षा कर सके तो, पर इसके लिए भी उसे अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाना होगा. अपने ही कर्मचारी से विवाह उसके लिए किसी भी स्थिति में संभव नहीं है. और इस घटना के अगले ही दिन सुकेश मिन्ना की फैक्ट्री की नौकरी से त्यागपत्र देकर चला गया.

सुकेश अखिलेश्वर का बहुत सम्मान करता था. उन्होंने उसके लिए बहुत कुछ किया भी था. इसके अतिरिक्त इनू के परिवार से भी उसका घनिष्ठ संबंध हो गया था, पर मिन्ना की ये बात उसके आत्मसम्मान पर ऐसी चोट थी जिसे वह सह नहीं पाया था. उसने निश्चय कर लिया कि वह कुछ बन कर रहेगा. और इसके साथ ही वह मिन्ना के फैसले का इंतजार भी करेगा. देखेगा कब तक स्वतंत्र जीवन में रुचि लेती है मिन्ना. इनू से सुकेश का संपर्क पत्रों के माध्यम से निरंतर बना रहा. अपने विषय में प्रत्येक सूचना वह इनू को देता और इनू भी अपनी हर बात उसे लिखा करती. उनके पत्रों में एक ही विषय का निषेध रहता था. और वह थी मिन्ना. और जब चिकी का जन्म हुआ, इनू-अनिल बेहद खुश थे. उन्होंने अत्यंत आग्रह से सुकेश को चिकी के नामकरण पर आने का निमंत्रण दिया, जिसे सुकेश सहज ही ठुकरा न सका और एक बार फिर उसी शहर में आ पहुंचा, पर इस बार वह मिन्ना के कर्मचारियों की हैसियत से नहीं, वरन् स्वतंत्र व्यवसायी के रूप में आया था. चिकी बेहद खूबसूरत थी; बिल्कुल गुड़िया-सी. सुकेश कितनी ही देर उसे बांहों में समेटे उसके प्यारे मासूम चेहरे को देखता रहा. जिस एक स्वर ने अचानक उसकी तंद्रा भंग की, मिन्ना का था. सुकेश ने चौंककर स्वर की दिशा में दृष्टि घुमायी. एक हाथ में शराब का गिलास व दूसरे हाथ में सिगरेट थामे मिन्ना बड़े औपचारिक ढंग से उसी से पूछ रही थी, "कैसे हो सुकेश, कहां हो आजकल?" और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना लड़खड़ाते कदमों से वह उस ओर चल दी, जहां उसके कुछ विदेशी मित्र खड़े थे. सुकेश ने आश्चर्य व अविश्वास से भरी निगाहें इनू के चेहरे पर जमा दी, इनू की आंखों में विवशता थी, मौन पलकें नीचे झुक गयी. यही थी मिन्ना से सुकेश की अंतिम भेंट. इसके पश्चात् सुकेश वहां से लौट आया. उसका मन इस दूसरे आघात से अत्यंत विचलित हो गया था, पर न जाने वह क्या था—अखिलेश्वर की अंतिम इच्छा के प्रति सम्मान की भावना या मिन्ना द्वारा दी गयी चुनौती या उसके द्वारा सुकेश के अहम् को पहुंची चोट, और या फिर मिन्ना का साहस टूटता देखने की इच्छा—सुकेश मिन्ना के प्रति विमुख होकर अपना पृथक संसार बसाने की इच्छा तक नहीं कर पाया और भविष्य में किसी अघटित के घटने की धैर्य से प्रतीक्षा करने लगा.

इस अघटित के लिए सुकेश को अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी. लगभग एक वर्ष के पश्चात् ही वह हो गया, जिसकी सुकेश को आशा थी. व्यवसाय के सिलसिले में लगभग दो महीने बाहर बिताकर लौटा सुकेश अपनी व्यक्तिगत डाक देख रहा था. पहले एक बहुत खूबसूरत कार्ड पर उसकी निगाह पड़ी. खोला, चिकी के प्रथम जन्म दिवस का निमंत्रण था, पर अब देर हो चुकी थी. सुकेश ने सोचा, वह उन्हें धन्यवाद व चिकी के लिए कोई भेंट भेज देगा और अपनी अनुपस्थिति का कारण बताते हुए क्षमा भी मांग लेगा. व्यक्तिगत पत्रों के उस ढेर से जो अगला पत्र सुकेश के हाथ लगा, वह था मिन्ना का पत्र. अत्यंत संक्षिप्त. इस पत्र में केवल इतना ही लिखा था, "मैंने एक दिन तुमसे कहा था, जब जीवन में सहारे की जरूरत आ पड़ेगी, तब सर्वप्रथम तुम्हें ही पुकारूंगी. आज मुझे सहारे की तलाश है सुकेश, और मुझे तुम्हारा ही इंतजार है." सुकेश ने पत्र पर लिखी तारीख देखी, पत्र लगभग एक महीना पहले आया था. उसने सोचा, पहले इस पत्र का उत्तर दे दे. पर फिर उसने स्वयं जाना ही निश्चित किया. इसके पश्चात् वह इतने दिनों से अदेखे व्यवसाय को व्यवस्थित करने में व्यस्त हो गया. उसने सोचा था कि अगर वहां ज्यादा दिन रुकना भी पड़े तो पीछे की चिंता न हो. इसी सबमें दो दिन और निकल गये. अगली सुबह जाना निश्चित था. प्लेन में सीट भी बुक हो चुकी थी. सारी व्यवस्था करके सुकेश निश्चित मन सो रहा था कि रात में कॉलबैल बजी. बैडलैंप जलाकर समय देखा, तीन बजे थे. उसने जल्दी से पांव स्लीपर में डाले

कला की सामर्थ्य

◘ निर्मल वर्मा

संभवतः किसी भी समय में लेखकों और कलाकारों ने इतने व्यापक स्तर पर उत्पीड़न, निर्वासन या एकांतवास की यातना नहीं सही है, जितनी हमारे युग में. क्योंकि किसी भी समय में इन काली ताकतों ने मनुष्य की छवि को विकृत कर इतना डरावना कभी नहीं बनाया था. अगर ईश्वर ने मनुष्य को अपनी छवि दी है तो यह हमारे समय की कला में ही हुआ कि उस छवि को अथक साहस के साथ बरकरार रखा जा सके. शायद अपने बचाव में कला यही उत्तर दे सकती थी उस प्रश्न के जवाब में जो तोल्स्तोय ने अपने जीवन के अंतिम के दिनों में उठाये थे—क्या कला का कोई अर्थ है?

दरअसल, वह अर्थ नहीं था जो तोल्स्तोय ने कला में खोजना चाहा था, क्योंकि कला न तो रोटी की बदल हो सकती है और न बुराइयों के विरुद्ध हथियार की तरह काम दे सकती है और भी हम वे उपन्यास पढ़ते हैं जो स्वयं तोल्स्तोय ने लिखे हैं और अब हम जानते हैं कि सिर्फ कला हमें क्या दे सकती है—वह है रोशनी का एक ऐसा नाजुक हलका जो धुंधले शीशे के आर-पार देखने में हमारी मदद करता है—सिर्फ अंधेरे का चरित्र ही नहीं, अपनी भूल की गहराई भी. □

और बाहर आकर दरवाजा खोल दिया. बाहर दरबान हाथ में तार लेकर खड़ा था. किसी अज्ञात आशंका से मुकेश का हाथ कांप गया. तार खोला. इनू ने भेजा था. उस पर लिखे चार क्रूर शब्द मुकेश पर वज्र-प्रहार करने को पर्याप्त थे. लिखा था—'मिन्ना दीदी नहीं रहीं'-और उसके बाद...

अचानक आहट से मुकेश की विचारधारा भंग हो गयी. इनू सबको खाना खिलाकर लौट आयी थी. "अनिल कहां है?" मुकेश ने पूछा.

"चिकी आज अकेले सो ही नहीं रही, उठते ही जाग जाती है. उसी के साथ लेटे हैं." कहकर इनू वहीं मुकेश के पास बैठ गयी.

"क्या मिन्ना ने कभी कुछ नहीं कहा तुमसे इनू... कुछ भी नहीं..." मुकेश अभी तक इस आकस्मिक घटना से हैरान था, पर इनू के पास इसकी हैरानी का जवाब सिवाय हैरानी के और कुछ नहीं था. अंतर था तो केवल इतना कि उसकी हैरानी मुकेश की हैरानी से थोड़ा कम थी, क्योंकि पिछले कई दिनों से मिन्ना का व्यवहार उसे कुछ अनपेक्षित घटने का आभास दे रहा था. इनू ने मुकेश की इस बात के प्रत्युत्तर में कुछ नहीं कहा. कितनी ही देर दोनों मौन अपने-अपने अंतर्द्वंद्व में डूबे रहे. अनायास ही इनू को याद आया, मुकेश जब से आया था, ऐसे ही बैठा हुआ था. उसने मुकेश से बहुत कहा कि वह जाकर थोड़ी देर आराम कर ले, उतनी देर तेरह दिन तक अखंड जलनेवाले उस दीये के समीप वह बैठी रहेगी, पर मुकेश के पास उसकी हर बात का एक ही उत्तर था. "मैं कुछ देर यहां एकांत में बैठना चाहता हूं इनू. प्लीज, तुम जाकर आराम कर लो." मुकेश की थकी-हारी आकृति, व्यथा से कांपता उसका अंतर्मन और पीड़ा से भरी आंखें इनू को करुणा-विगलित कर गयीं. कैसे ढाढ़स बंधाये वह अपने मुकेश दादा को, उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था. हारकर वह उठी और कमरे से बाहर चल दी. थोड़ी देर बाद जब वह लौटी तो उसके हाथ में एक बंद लिफाफा था. वह लिफाफा मुकेश की ओर बढ़ाते हुए बोली, "यह मिन्ना दीदी का अंतिम पत्र आपके नाम, शायद इसमें उन सवालों का जवाब हो जो आपके मन को मथ रहे हैं." और लिफाफा देकर वह उन्हीं कदमों से वापस लौट गयी. मुकेश ने एक नजर मिन्ना की स्मृति में जल रहे दीप की कांपती लौ पर डाली और फिर इतने ही कांपते मन और कांपते हाथों से लिफाफा खोल डाला, और फिर पत्र का एक-एक शब्द उसके नेत्रों के समक्ष वृहदाकार हो छाने लगा. पत्र में लिखा था:

मुकेश, आज जब अपना जीवन समाप्त करने का निश्चय कर ही लिया है, तब तुम्हें अनिश्चितता व भ्रम के अंधेरे जंगल में भटकने के लिए छोड़ना नहीं चाहती मैं. पहले ही बहुत अन्याय हुआ है तुम पर मेरे द्वारा, पर अब और नहीं होगा.

जब पहली बार पापा ने तुम्हारे साथ मेरे रिश्ते की बात मुझसे कही थी, तब मैं विश्वास ही नहीं कर पायी थी. सच कहूं तो मेरे अहम् को बहुत चोट पहुंचायी थी. अपने ही यहां के एक कर्मचारी को जीवन-साथी बनाना मेरी शान के खिलाफ था. यही कारण था कि पापा के जाने के बाद भी उनकी इच्छा का सम्मान नहीं कर पायी मैं... स्वयं को बहुत ऊंचा जो समझती थी मैं.. तुमसे.. अपने आसपास के हर व्यक्ति से. तुम चले गये, मन में एक चोट, आहत स्वाभिमान लेकर. और मैं व्यस्त हो गयी अपने व्यवसाय में, अपने विदेशी मित्रों में. पर सच तो ये है कि मैं विदेशी संस्कृति के खुलेपन को अपना ही नहीं पायी थी पूरी तरह. मेरा संस्कारी मन मुझे बार-बार उस पथ से लौट आने की चेतावनी देता. मैं झूठ के आवरण में ढंका जीवन जीती जा रही थी, स्वयं पर भी यह सत्य प्रकट नहीं होने देना चाहती थी मैं, कि इतने प्रयास के बाद भी बाहर से मेरा रहन-सहन भले ही विदेशी रंग में रंग गया था, पर मेरा अंतर अभी भी भारतीय परिवेश का ही एक अंग था, मैं भी अपने मन के किसी कोने में नारी की कोमल भावनाओं को छिपाये थी. धीरे-धीरे मेरे भीतर एक अजीब-सी थकन, एक अचीन्हा-सा खालीपन घर करने लगा. कभी मन चाहता, ये सब छोड़कर कहीं दूर भाग जाऊं. इनू को अनिल के साथ देखती तो मन में एक शूल-सा गड़ जाता. पर मेरा अहम् ये स्वीकारना ही नहीं चाहता था कि मैं भी अन्य साधारण लड़कियों की भांति एक साधारण जीवन व्यतीत करना चाहती थी. दिन तो कई तरह की व्यस्तता में कट जाता, पर रात को जब सोने लगती, तब एकाकीपन बुरी तरह कचोटता. किसी की बलिष्ठ बांहों के सुरक्षित घेरे में सिमटकर निश्चित सोने को मन तरस-तरस जाता. पर सुबह होते ही व्यस्तता के चक्र में इस तरह पिसती कि पिछली रात का कुछ भी याद नहीं रहता. मन की अस्थिरता सिगरेट और शराब की अधिकता में बदलती गयी. ऐसा नहीं कि मैं पुरुषों के संपर्क में आयी न होऊं. अपने विदेशी मित्रों के साथ अक्सर घूमती थी मैं, अकेले भी, ग्रुप में भी. पर कभी किसी पुरुष के संसर्ग में सहज समर्पण का भाव मेरे मन में नहीं जागा. कभी लगता, या तो मैं मानसिक रोगी हूं या मेरे पुरुष मित्रों में उस पौरुष भाव की कमी है जिसके समक्ष नारी असहाय हो सहज ही समर्पण कर देती है. मेरे मित्र मुझे मजाक में बर्फ की चट्टान कहकर पुकारते. जिमी ने तो एक बार यहां तक कह दिया, "कुछ औरतों में सहज समर्पण की भावना तब तक नहीं जागती जब तक उन पर बलात्कार न किया जाये. उसके बाद ही वे नार्मल हो पाती हैं, नहीं तो आजीवन सैक्स से दूर ही भागती रहती हैं. तुम भी शायद उन्हीं में से एक हो." और मैं हंसकर रह गयी थी. पर अब मुझे अक्सर यह लगने लगता कि मेरी आयु का महत्त्वपूर्ण भाग निरर्थक ही जा रहा है, मैं निष्फल होती जा रही हूं. उन्हीं दिनों मैं सख्त बीमार पड़ी. बीमारी की उस स्थिति में स्वयं को और भी एकाकी, असहाय अनुभव किया मैंने. मुझे याद आता, जब चिकी हुई थी तो अनिल कैसे रात-रात भर इनू का हाथ थामे, उसके बैड से कुर्सी सटाये जागते रहे थे. मैं भी किसी की वैसी ही देखभाल के लिए मन ही मन अकुलाने लगती. डाक्टर ने सिगरेट और शराब दोनों की सख्त मनाही कर दी थी. अपना आप और भी खाली, और भी वीरान लगने लगा. चिकी को देखती तो मन में कहीं टीस-सी उठती, काश... मैं भी मां बन पाती...

बीमारी से उठी तो आफिस जाने को सोचा. हेलेना ने बाल बनाते-बनाते टोका, "अब तो आपके बालों में मेंहदी लगानी पड़ेगी, पकने शुरू हो गये हैं." मैंने चौंककर उसकी ओर देखा. लगा, जैसे आयु के कई वर्ष अचानक एक साथ मेरे हाथों से पलक झपकते फिसल गये हों. उस रात चेहरे से मेक-अप उतारने के बाद कितनी ही देर अपने को दर्पण में निहारती खड़ी रह गयी. आंखों के नीचे स्याह दायरे पड़ गये थे और कोनों में बढ़ती आयु की महीन रेखाएं खिंच गयी थीं. काले बालों में कहीं-कहीं सफेदी की चमक उभर आयी थी. उस रात इतने अंतराल बाद पहली बार तुम मुझे याद आये मुकेश! और तुम्हारे साथ-साथ मेरे अवचेतन में जो दूसरी स्मृति उभरी, वह थी नन्ही चिकी की. उस रात के अंतिम प्रहर में जब मुझे नींद आयी तो मैंने एक स्वप्न देखा—एक नन्हे-से मासूम गुलाबी वस्त्रों में सुसज्जित गुलाबी चेहरेवाले बच्चे को, जो अपनी नन्ही कोमल हथेलियों में मेरा चेहरा भरकर मुस्कराते लाल होंठों से मद्धिम से स्वर में कह रहा था, "मां!" उस रात पहली बार मैंने अनुभव किया कि किसी औरत के जीवन में ये मोड़ कितना भयावह होता है—अपने खूबसूरत चेहरे पर पहली रेखा, अपने घटाओं से मस्त केशों में सफेदी की पहली झलक देखने का यह पल. और इसी पल की भयानक अनुभूति से मुक्ति पाने के लिए आवश्यकता होती किसी सहारे की, एक घर की, और एक ऐसे जीवन की, जिसका निर्माण स्वयं किया हो. अपनी ही देह से अंकुरित उस नन्हे जीवन के विकास को देखने में व्यस्त नारी अपने यौवन बीतने के आघात को सहज ही झेल जाती है और खो जाती है उस आनेवाले यौवन के आनंद में, जिसकी सृष्टिकर्ता वह स्वयं होती है. उस रात पहली बार मन में तुम्हें पत्र लिखने का विचार आया. पहली बार ये समझ में आया कि पापा कितने दूरदर्शी थे, जिन्होंने मेरे लिए तुम्हें जीवन साथी चुना. तुम, जो आज भी मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे.

उसके बाद मेरी जीवनचर्या व्यस्त तो रही, पर व्यस्तता के मध्य जो एक खालीपन मेरे मन में घिर आया था, वह लगातार बढ़ता ही गया. प्रतिदिन सोचती आज तुम्हें लिख दूंगी, पर फिर समझ न पाती कि क्या वास्तव में यही चाहती हूं मैं? और क्या तुम ही स्वीकार कर लोगे लौटकर आना?.. उन दिनों मेरा मन बहुत विचलित था. हर समय कुछ न कुछ सोचती रहती. मित्रों के साथ आना-जाना भी लगभग छूट-सा गया था. आफिस से घर आती और चिकी के साथ व्यस्त हो जाती. कहीं भी जाती तो नन्हे बच्चे गोद में लिये मातृत्व के गर्व से दमकते चेहरों को तरसती निगाहों से देखा करती. ऐसा लगता जैसे हर औरत अपने में संपूर्ण है, एक पूरी सृष्टि की निर्माणकर्ता. और मैं सबसे पीछे, सबसे अकेली रह गयी हूं. और तब आया मेरा जन्मदिन. इनू, चिकी व अनिल के साथ अनिल की मां को घर लाने गयी थी, जिनका स्वास्थ्य अचानक खराब हो गया था. मैं अकेली घर में थी, बहादुर के साथ. बस मैं थी और पापा की याद. स्वयं को बहुत अकेली, बेसहारा, बेजान अनुभव कर रही थी मैं कि तभी जिमी आया. उसे मेरा जन्मदिन याद था, और वह मुझे अपने घर ले जाने आया था, जहां अपने अन्य मित्रों के साथ उसने एक छोटे-से समारोह का आयोजन किया था. अपने एकाकीपन से मैं भी भागना चाह रही थी, सो तुरंत ही उसके साथ चल दी. उसके घर पहुंचकर हम सब खाने-पीने व संगीत में व्यस्त हो गये, पर मेरा भीतर उदास ही बना रहा. मुझे वह सब आयोजन खोखला, रंगहीन लग रहा था. जिमी ने मेरे उखड़ेपन को लक्ष्य किया और कहने लगा, "मिन्ना, आज की ये शाम तो उदास रहकर न गंवाओ. तुम्हारी उदासी भगाने का इलाज है मेरे पास." और फिर उसने मुझे कुछ गोलियां खाने को दीं, जो हम सबने मिलकर खा लीं. उन गोलियों को खाने के कुछ समय पश्चात ही मुझे लगा जैसे मेरा शरीर फूल-सा हल्का हो गया हो, जैसे मैं बादलों में तैर रही हूं. मैं पूरे होश-हवास में थी, पर मुझमें इतनी भी शक्ति शेष नहीं थी कि अपने हाथ-पांव भी हिला सकती. और फिर उसी नशे की स्थिति में पहले जिमी तथा फिर उसके चारों साथियों ने मेरे साथ बलात्कार किया. मैं उन्हें रोकना चाहती थी, पर रोक नहीं पायी. मैं चिल्लाना चाहती थी, पर मेरी आवाज गले में ही घुटकर रह गयी. असहाय-सी पड़ी मैं खुली आंखों एक-एक कर उन्हें अपने शरीर पर झेलती चली गयी. वह अनुभव कितना भयावह, कितना वीभत्स था, यह वही नारी समझ सकती है, जिस पर कभी बलात्कार हुआ हो. उस अनुभव को व्यक्त करने के लिए शब्द ही नहीं मेरे पास. कितनी देर ऐसे ही अचेत पड़ी रही, याद नहीं. उसके बाद कौन गाड़ी में डालकर घर छोड़ गया, ये भी नहीं जानती. उस सबका स्मरण होते ही शिराएं फूटने लगती हैं पर स्पष्ट कुछ याद नहीं आता. उस हादसे के बाद कितने ही दिन अपने कमरे से बाहर तक नहीं निकली मैं. जिमी स्वयं आकर, फोन करके थक गया पर मैंने उसकी सूरत तक देखने से मना कर दिया. अंत में फूलों के गुलदस्ते के साथ एक संदेश छोड़कर बाहर बैठ गया वह. लिखा था—जो कुछ हुआ, उसके लिए बेहद शर्मिंदा है वह. ऐसा कुछ भी करने की उनकी योजना नहीं थी, बस नशे की झोंक में हो गया. और अब वह अपने इस कृत्य के लिए किसी भी सजा को सहर्ष स्वीकारेगा. यदि मैं उससे विवाह करना चाहूं तो उसके लिए भी तैयार है वह, पर मैं तो जैसे पत्थर ही गयी थी.

फूल उठवाकर मैंने बाहर फिंकवा दिये. हारकर जिमी लौट गया. मन बार-बार चाहता, तुमसे एक बार मिल पाऊं तो सब कुछ कह दूं और मन हल्का कर लूं. यही लगता था कि एक तुम ही हो इस संसार में जो मुझे समझ सकते हो. और सच्चाई जानने के बाद शायद तुम सहारा भी दे दो मुझे. क्योंकि जो हुआ, उसमें मेरी सहमति नहीं थी; और इससे मेरा गुनाह कुछ तो कम हो ही जाना था. और तब साहस करके एक पत्र लिख ही दिया तुम्हें, जो शायद मिला होगा. पर तुमने कोई उत्तर नहीं दिया, न ही स्वयं आये. इधर दिन पर दिन मेरा स्वास्थ्य गिरता जा रहा था. इस हालत में कितने दिन जीती मैं. किसी काम में मन नहीं लगता था, शरीर एकदम कमजोर हो गया था. अंततः फोन करके अपने फेमिली डॉक्टर को बुलवाया, पर उसने चैकअप के बाद जो सूचना मुझे दी, उससे

● अनीता मनोचा

मेरे पांव के नीचे से धरती खिसक गयी. ऐसा लगा जैसे किसी ने मुझे जलते शोलों में खींच लिया हो. डॉक्टर के अनुसार मैं मां बननेवाली थी. मेरा सारा अस्तित्व डाल से टूटे पत्ते-सा कांप गया.. जिस बच्चे की चाह इतने दिनों से तड़पा रही थी मुझे, उसे क्या इसी तरह आना था... डॉक्टर की राय थी कि मैं तुरंत बच्चा नष्ट करवा लूं अन्यथा कुछ भी हो सकता था, पर मैं समझ नहीं पा रही थी कि अपने गुनाहों की सजा उस मासूम को क्यों दूं जो अनजाने ही मेरे गर्भ में पलने लगा था. उसे नष्ट करने से तो अच्छा है, मैं स्वयं को समाप्त कर लूं. ये सब मेरी ही गलती का परिणाम है, इसीलिए सजा भी स्वयं को ही देनी होगी. मैं जितना सोचती, इसी परिणाम पर आती कि अब स्वयं को समाप्त करना ही होगा. अच्छा ही हुआ कि अब तक तुम नहीं आये. अपने अब तक के गुनाहों की क्षमा तुमसे पा सकूंगी, इसकी तो आशा थी मुझे, पर अब इस बच्चे का परिचय क्या देती तुमको मैं कि जिसके पिता का नाम मैं स्वयं भी नहीं जानती. इस बच्चे को नष्ट करने का साहस मुझमें नहीं. इसकी मां बनकर गौरव से जी सकूं, इसका अधिकार समाज नहीं देता. वैसे भी इसकी उपस्थिति मुझे पल-पल उस वीभत्स घटना की याद दिलाती रहेगी. अतः मैं जा रही हूं, अपने अजन्मे बच्चे व अपनी अतृप्त कामनाओं के साथ. अगर फिर दोबारा जन्म मिला मुझे, और तुम्हारे साथ का सौभाग्य भी, तो तुम्हें खोने की भूल न दोहराऊं! मुझे माफ कर देना—मिन्ना.

पत्र समाप्त कर मुकेश जड़ बैठा रह गया, उसे लग रहा था, उसे आने में बहुत देर हो गयी या कि मिन्ना ने जाने में बहुत जल्दी कर दी. वह चीख-चीखकर कहना चाहता था—सुनो मिन्ना, तुम ऐसा नहीं कर सकतीं, ये अन्याय होगा, तुम्हारे साथ, तुम्हारे बच्चे के साथ. तुम नहीं जानतीं, आज से बत्तीस वर्ष पूर्व ऐसा ही हुआ था. एक मासूम लड़की की कुछ अनजान लोगों के हाथों लाज लुट गयी थी, पर उसने अपने अनचाहे गर्भ को नष्ट नहीं करवाया, वरन् दुनिया भर की बदनामी सहकर उस बच्चे को जन्म दिया, उसका पालन-पोषण किया, उसे चलना-बोलना सिखाया. उसने हार नहीं मानी, पर अंत में जब वह बहादुर लड़की मेरी मां थी. मैं जो आज तक अपने पिता का नाम नहीं जानता, क्योंकि मेरी मां को भी वह नाम नहीं मालूम था. मैंने उसे अबोध आयु में ही मां की छाती से उसका दूध ही नहीं वरन् उसके सीने में छिपा दर्द भी पिया था, और थोड़ा बड़ा होने पर खुद से वादा किया था कि ऐसी किसी मजबूर लड़की को सहारा देकर अपनी मां का ऋण हल्का करूंगा. फिर भला मैं तुम्हें, तुम्हारे बच्चे को अस्वीकार कैसे करता. नहीं मिन्ना, ऐसा अन्याय मत करो मेरे साथ, मैं अपनाऊंगा तुम्हें!

कहते हैं, मृतक की आत्मा तेरह दिन तक अपने परिचितों के बीच ही रहती है. मिन्ना की आत्मा वहां थी या नहीं, उसने मुकेश की आत्मा की पुकार सुनी या नहीं, ये तो विधाता ही जानें; पर मिन्ना की स्मृति में अखंड जलता दीपक एक बार तीव्र प्रकाश बिखेर कर अचानक बुझ गया. अब कमरे में केवल अंधकार शेष था. □

● 370, सेक्टर-17, पंचकूला (हरियाणा)

मुट्ठी में क्या है

तरसेम गुजराल

कैसे होते हैं बुखार के लंबे दिन? तेज बुखार की नीम बेहोशी में चीजें किस तरह नजर आने लगती हैं. . .! कैसी होती है यह यातना और इसकी चमक. . . जो हमें देर तक घेरे रहती है! पंजाब के युवा कथाकार तरसेम गुजराल की मार्मिक कहानी—

दरेक की फुनगियों पर शाम के साये उतर आये थे जब शीला दीदी ने एक तेज हवा के झोंके की तरह दहलीज में कदम रखा. पिछले हफ्ते से लगातार बुखार ने मुझे खाट पर सीमित कर दिया था. गर्मियों की शाम में मां आंगन धो देतीं और मेरी खाट आंगन के एक कोने में लग जाती. सफेद चादर लपेटकर मैं झूलता लड़खड़ाता-सा उस पर आ गिरता. वहां तक आने में कभी दीदी का सहारा मिल जाता और कभी नहीं भी. अकेले आने में मां का बड़बड़ाना जारी हो जाता.

आंगन में लेटने पर मेरी नजर रसोई की छत से ऊपर झांकनेवाले दरेक के पेड़ पर जमी रहती. हवा की कारगुजारी अपने जिस्म से कम दरेक के पेड़ से ज्यादा नजर आती. बैग फेंकते ही शीला दीदी मेरी खाट पर बैठ गयीं.

"क्या हो गया तुझे?"

"बुखार." दर्पण नहीं होने से क्या होता है. दीदी के चेहरे पर जो दर्द की लकीर आ गयी थी उससे पता चल गया था मेरे पीले चेहरे पर मुस्कान की रेखा स्वाभाविक नहीं थी. दीदी ने मेरा हाथ अपने दोनों हाथों में ले लिया. उस वक्त उनका हाथ मेरे हाथ से गर्म था या मेरा हाथ ही ठंडा-ठार था.

"इस वक्त तो नहीं है?"

"नहीं! बस अभी थोड़ी देर में आना शुरू हो जायेगा. रात भर रहता है, सुबह उतर जाता है."

"आज मैं आने नहीं दूंगी उसे."

मुझे हंसी आ गयी. दीदी मुझे बहला रही थी जैसे एक बच्चे को मेज से चोट लग जाने से हम मेज पीट देते हैं. देखो हमने मेज को मारा है, अब वह रो रही है. चुप हो जाओ.

"कब से हो रहा है?"

मैंने याद किया कि हमारा हिंदी का टेस्ट किस दिन था. रवि को छुट्टी थी और सोमवार को. . . "पिछले सोमवार से."

मुझे दीदी के आने से खुशी हुई थी. सुबह जब दोनों बहनें स्कूल चली जाती थीं और पापा दुकान पर तो कोई मुझे कमरे में थोड़ी दूर पड़े रेडियो से स्टेशन तक नहीं बदलकर देता था. सुबह बुखार उतर जाता और मुझे मद्धम आवाज में रेडियो से गीत सुनना अच्छा लगता. हफ्ते भर में ही मुझे सहगल, मुकेश और दूसरे रोकर गानेवालों में दिलचस्पी हो गयी थी. मुझे लगता कि वे तमाम गीत बुखार के बाद गाये गये हैं. मेरी पहचान उन गीतों से अंतरंग होती चली जा रही थी. उनमें से कुछ गीतों को म्यूजिक शुरू होते ही मैं जान लेता.

"कुछ दिन रहोगी न दीदी?"

"कुछ दिन क्या? जब तक तुम ठीक न हो जाओ तब तक रहूंगी."

और बड़ी दीदी तब तक आ गयी थीं. आते ही वे दीदी से गले मिलीं. दीदी ने उनसे शिकायत की कि उन्होंने चिट्ठी में मेरी बीमारी के बारे में क्यों नहीं लिखा. बड़ी दीदी ने कहा कि उन्होंने लिखा तो था लेकिन पापा ने कटवा दिया. हमारा चिट्ठी लिखने का अजब ढंग था. एक पोस्ट कार्ड पर पापा बीच से लाइन लगा देते. आधा बड़ी दीदी लिखती, आधा छोटी और पतेवाला आधा हिस्सा मेरे लिए बच जाता. जगह इतनी कम होती कि शुरू में हमारी कुशल मंगल की सूचना देने से ही चिट्ठी खत्म हो जाती. आदमी जरूरत पड़ने पर रस्में और औपचारिकताएं तोड़ने लगता है. हमने भी इस बारे में दो निर्णय लिये. पहला यह कि कार्ड लिखते समय 'यहां पर सब कुशल है, आपकी कुशलता भगवान से शुभ चाहते हैं' के जुमले को छोड़ दिया. इसकी जगह सीधा मैटर शुरू कर दिया : "पापा चाहते हैं कि मंगला की शादी पर जाती बार आप यहां से होते जायें ताकि माता जी को भी आपके साथ रवाना किया जा सके क्योंकि सेलटेक्स की तारीख होने के कारण पापा मंगला की शादी पर नहीं आ पायेंगे." वगैरा. दूसरा यह कि हमने आपस में तय किया कि एक बार में एक जना ही चिट्ठी लिखेगा. दीदी को चिट्ठी लिखने में हम लोग अपनी बारी की अवहेलना कर जाते. बड़ी दीदी की इस चिट्ठी की सूचना भी हमारे उस रसोई समझौता (वह समझौता रसोईघर में सुबह के नाश्ते के बाद हुआ था) का अतिक्रमण था. छोटी दीदी ने यह बात खुलने पर मेरी तरफ और मैंने उनकी तरफ देखा. लेकिन उस वक्त कहा कुछ नहीं. तब तक मां भी सब्जी लेकर आ गयी थीं. हमारे इस विवाद पर मुझे चुप करवाने के लिए मां की टिप्पणी यही हुआ करती थी, "देखो, इसमें बिल्कुल झगड़ा नहीं करो. ससुराल चली जायेंगी तो सारी चिट्ठियां तू अकेला ही लिखा करेगा."

मां दीदी से बातें करने लगी थीं. उनकी टोकरी में घियाकद्दू देखकर मेरा मुंह का स्वाद कुनैन से भर गया. कद्दू परिवार की कोई सब्जी मुझे अच्छी नहीं लगती थी. लेकिन पापा और मां यह मानकर कि सेहत के लिए अच्छे हैं हमारे स्वाद के खिलाफ भोजन के वक्त हमारी कटोरियों में कद्दू परोस देते. मन चाहता कि कद्दू की सब्जी के साथ रोटी खाने की जगह भूखा रह जाना बेहतर है लेकिन इस विकल्प पर अपना कोई बस नहीं होता. मां घबराकर मिन्नत करने लगतीं. पापा जान जाते तो खफा होने लगते. मां की कातर और पापा की गुस्से से भयभीत आवाज तथा पापा की गुस्सैल नजरें और 'भूतनी के. . .' से शुरू होनेवाले वाक्यों का एक ही मकसद था कि कद्दू के संबंध में कोई अस्वीकार चल नहीं पायेगा. आप ज्यादा से ज्यादा अपनी भूख छोटी कर सकते हैं, कद्दू की कटोरी लबरेज छोड़ सकते हैं लेकिन भोजन कद्दू रहित नहीं हो सकता.

मां ने चाय बनाकर सभी को दे दी. छोटी दीदी चची की दुकान से समोसे लायी थी लेकिन इसके लिए मैं उम्मीदवार नहीं समझा जा रहा था. मैंने टैगोर को याद किया. टैगोर के यहां मेरी जानकारी के अनुसार बुखार के बावजूद समोसा खाने का कोई मंत्र या कारगर उपाय नहीं था. चाय पीते-पीते मेरी नजर दरेक की फुनगियों पर चली गयी. शाम पहले से कहीं ज्यादा घिर आयी थी. जैसे भूख नहीं होने पर भी बहुत भूख लगती है और सभी लोगों के बीच कोई अकेला हो जाता है कम से कम अपनी तकलीफ को लेकर. कुछ इस तरह से उमेठने वाली कोई चीज मेरे भीतर चलने लगी. यह शायद घबराहट थी.

मैं जानता था कि अभी जरा-सी देर में ही मेरा जिस्म पत्ते की तरह कांपने लगेगा. गर्मी के मौसम के ऐन बीच यह संध्या की ठिठुरन मुझ पर गाज की तरह गिरनेवाली मुझे कमजोर कर रही थी. कमजोर और सफेद. इस ठिठुरन और बुखार के बीच सिर्फ इतना फासला था जितना किसी बनैले हिंसक पशु और मचान के नीचे बंधे मेमने के बीच हो.

उसके बाद मुझे सचेत और अचेत अवस्था के बीच तमाम रात डोलते रहना होगा. पूरा जिस्म बुखार से तवे की तरह जल रहा होगा. आंखें पूरी खुलेंगी नहीं. खुलेंगी तो मिची-मिची-सी सुर्ख जैसे लाल मिर्च पड़ गयी हो. पेशाब के लिए कभी उठना भी होगा तो लड़खड़ाते कदमों से. कभी खाट पकड़कर, कभी दीवार के सहारे और कभी पापा के

हालात की इस ज्यादती से कोई निजात नहीं थी चाहत की इस मंजिल का कोई ठौर नहीं. न टैगोर के यहां न मंगत राम के यहां. रवींद्र नाथ टैगोर का बचपन और पलायन की ख्वाहिश अपनी जगह थी और मंगतराम हिंदी टीचर का मौलाबख्श अपनी जगह.

मेरी यातना के इन दुर्बल क्षणों का पापा और मां चश्मदीद गवाह थे. दोनों दीदियां संध्या की ठिठुरन की गवाह तो थीं लेकिन पूरी रात की उस जद्दो-जहद की नहीं जब बुखार किसी हिंसक पशु की तरह मुझे दबोचता और मेरी भरसक कोशिश अखाड़े में उतरे युवक-सी यही रहती कि मेरी पीठ जमीन से न लग जाये. यह बात अलग थी कि मैं इस दंगल के बारे में जरा अनाड़ी था. प्रतिद्वंद्वी की पकड़ में आ जाता था और वह दावपेचों में निपुण होने के कारण मार नहीं गिराने पर भी एक झटके में रौंद जरूर देता. शीला दीदी मेरी इस रगड़ाई को देखेंगी. इस सवाल ने मेरी घबराहट को तेज कर दिया था. जैसे कह रहा हो अपने आप तौबा कर लो वरना बहुत रगड़ाई होगी.

सुबह होने तक मैं इस द्वंद्व से तो मुक्त हो चुका होता लेकिन मेरे पूरे जिस्म में थकान और टूटन भर जाती. हफ्ते भर में हाल यह हो गया था कि टांगें मेरा अपना बोझ ठीक से नहीं संभाल रही थीं और कंधे फिलहाल मेरा स्कूल बैग स्कूल तक ढोने के नाकाबिल हो गये थे.

रोज शाम यही होता. ठंड का आतंक मुझे घेरने लगता. एक बदमजगी-सी तालू से चिपक जाती. छाती के पिंजरे में दिल मुट्ठी में जकड़ा-सा रहता. पूरा का पूरा जिस्म आग में जल रहा होता लेकिन पांव ठंडे होते. जिन दिनों मैंने अभी चलना ही सीखा था, मां बताती हैं, सर्दियों में मेरे पांव बिल्कुल ठंडे पड़ जाते. मां रात भर उन बर्फ के ढेलों को गोद में लेकर गर्म करती रहतीं.

"कमजोर हो गया है काफी." शील दी के इस वाक्य से मुझे पता चला कि उन लोगों में बातचीत मेरे बारे में ही हो रही है. बीमार पड़ने पर कई दफे हम पास और दूर से आते तमाम वाक्यों के टुकड़ों को बीनते रहते हैं. और अपने मन में एक इमारत जमाते रहते हैं. बीने हुए इन टुकड़ों का एक अपना संसार होता है जैसे रंग-बिरंगे कार्ड. इमारतों के और दृश्यों के. कभी कहीं जब हम कोई कहानी सुनते हैं या पढ़ते हैं, तो उन दृश्यों में उन तमाम पात्रों को जीते हुए महसूस करते हैं. बगैर किसी संचेत डिमाकेशन के विजन की वह मिक्सिंग भली लगने लगती है. गली में एक लड़का गुजरते हुए हुए दूसरे से कह रहा था, "काटू जब आकाश में बुत बन गया तो मैंने डोर देनी बंद कर दी." मैं कल्पना करने लगा कि यह फिकरा कहते वक्त उस लड़के ने दूसरे लड़के के गले में बांह डाली हुई होगी और पूरी तल्लीनता में किस्सा सुना रहा होगा. बुखार होने का सबसे बड़ा नुकसान मुझे यही हुआ था—मैं खेल से बिल्कुल वंचित कर दिया गया था. लगभग दस दिनों से मैं न भाग सका था न लड़कों की उछल-कूद में भाग ले सका था. मेरी बंटों की थैली अल्मारी के नीचे लावारिस पड़ी थी. बाहर लड़के 'एक्सप्रेस' खेलते, 'ठिप्-पुगर्म' खेलते और धम्मा-चौकड़ी मचाते. दूर से आता हुआ उनका शोर मेरी उपेक्षा करते हुए निकल जाता. मैं अब उस शोर का एक हिस्सा नहीं रह सका था. लड़के भूआ के घड़े पर 'ये हो' का शोर मचाते होंगे. भूआ लाठी और ऐनक संभालकर जब तक बाहर निकलती होंगी तब तक. . . यह जा. . . वो जा! ये लड़के हैं या भूत-प्रेत? खुदा गारत करे. इन शैतान कीटूटियों को. कौन-कौन है इनमें? यह शरीफ घरों के लड़के नहीं होंगे. खानदानी लड़के इतनी हू-हू नहीं करते. इन्हें न किसी की इज्जत का ख्याल है न किसी के आराम का. एक दिन जब उन्होंने मुझे भी उन लड़कों में देख लिया तो उनका विश्वास जैसे हत्थे से उखड़ गया हो, "तू तो खानदानी

लड़का है. तू भी इन मरदूदों में खेलने लगा. लग गयी तुझे भी जमाने की हवा. करती हूं आज ही शिकायत तेरे पिता से. वह बेचारा तो इतना नेक है कि जहां भी देख ले दोनों हाथ जोड़ देता है. उम्र लंबी हो उसकी. मुहल्ले में सभी की इज्जत करता है. और तू . . . तू इन निगोड़ों में हू-हू कर रहा है. कान खोलकर सुन ले कुसंग डुबोये, संग तारे. इनकी संगत में रहा तो पढ़ाई-लिखाई सब छोड़ कर कुल्फियों की रेहड़ी लगाता नजर आयेगा. जस्सू की हालत देखी न! ऐसे ही बुरी संगत में पड़ा था. आलूवाले बाग में किताबें बेचकर जुआ खेल आया था. आज छोड़ देती हूं, फिर देख लिया न इन बेगैरतों के साथ तो तेरे पिता से कहकर मुर्गा बनवा दूंगी. फिर न कहना मुआ ने मार पिटवा दी."

मुआ चिढ़ती थीं इसलिए लड़के उन्हें चिढ़ाते थे. रास्ते चलते-चलते वे उनका दरवाजा खटखटा देते और भागकर गली के मोड़ पर खड़े हो जाते. मुआ निकलती तो मरदूदों, लफंगों, निगोड़ों, बेगैरतों के प्रशंसावाची शब्द सुन-सुनकर खुश होते रहते. यदि कभी मुआ एक बार दरवाजा खटखटाकर भागने पर नहीं निकलती तो एक लड़का दुबारा जाकर दरवाजा खटखटाकर आता. दरवाजा खटखटाने का यह काम तब तक होता जब तक मुआ आकर उनकी वंश-परंपरा को आशीर्वाद वचनों से निहाल न कर देतीं.

स्कूल में नवीं-दसवीं की क्लासों के कमरे और विज्ञान प्रयोगशाला की रेंज के पीछे की दीवार स्कूल की बाऊंडरी कहलाती. इस दीवार की पिछली तरफ एक खुला तालाब पड़ता था. दीवार के कोने में एक भग्नावशेष पुराना चबूतरा था. उस चबूतरे से तालाब का पानी देखना हमें इस तरह लगता जैसे हम कन्या-कुमारी से हिंद महासागर का नजारा देख रहे हैं. तालाब के, उस पार बस्ती शेख के खेत नजर आते. हमारे लिए वह लंका का प्रदेश था.

चबूतरे से तालाब में तैरती मुर्गाबियां देखना हमारा प्रिय खेल था. तैरते-तैरते वे जाने कब पानी में डूब जातीं.

खाली पीरियड में दूसरी तरफ से जाकर तालाब की सतह पर ठीकरियों के टुकड़ों से पानी की सतह पर ठिप्पे खिलाना हमारा दूसरा प्रिय खेल था. हम दो-तीन लड़के जेबों में टूटे घड़े की ठीकरियां भर लेते. तर्जनी और अंगूठे की मदद से उसे इस तरह फेंकते कि वे पानी की सतह पर ठप्पे डालती निकल जातीं. बराबर-बराबर मात्रा की ठीकरियां फेंककर ठप्पे गिने जाते. फिर ज्यादा या कम अंकों के आधार पर हार-जीत का फैसला किया जाता. छुट्टी होने पर हारे हुए खिलाड़ी को बाकी के खिलाड़ियों के बस्ते उठा कर ले जाने पड़ते. जीता हुआ खिलाड़ी शान के साथ खाली हाथ चला आ रहा होता.

बुखार के इन लंबे दिनों में खेल का वह हर पल कंजूस के खजाने की तरह लग रहा था. मुर्गाबियां, बगुले, वह जीर्ण-शीर्ण-सा चबूतरा और ठीकरियों के ठिप्पे अब अपने से काफी दूर छूटे हुये तथा एक खास धुंध में लिपटे लगते. तेज बुखार की नीम बेहोशी में अपनी पहचान कायम करते और शाम की परछाईं की तरह मिट जाते. इस यातना का एक अपना रहस्य था. एक अपनी चमक जो हमें देर तक घेरे रहती है.

इतने दिनों में मेरे पास राजू और बब्बल को छोड़कर कोई भी लड़का नहीं आया. वे दोनों भी थोड़ी देर के लिए ही. मोचीपुरा के लड़के मेरे यहां आने के लिए वैसे ही झिझकते थे. हमारा पक्का घर, घर में ही नलका, कुर्सियां, मेज, पलंग, रेडियो तथा पंखा उनके लिए बड़े 'घर' की परिकल्पना में आते थे. दीपक इसलिए नहीं आता था कि उसके पापा मुझ जैसे हिंदी स्कूल में पढ़नेवाले की सोसायटी पसंद नहीं करते थे. और फिर आजकल तो मैं खाट पर था. उनकी राय थी कि ऐसे मरीजों से कोई छूत की बीमारी लग सकती है. हमारे जैसे लड़कों के साथ खेलने की बजाय वे उसका सीजर से खेल लेना अच्छा समझते थे क्योंकि सीजर तो रोज बढ़िया साबुन में नहाता था. उसका नन्हीं-नन्हीं घंटियोंवाला पट्टा पच्चीस रुपये में आता है जबकि इतने में मेरी नेकर और कमीज दोनों आ जाती थीं.

सीजर पर मैंने संज्ञाएं जरूर याद कर रखी थीं. 'कुत्ता' जातिवाचक संज्ञा है, 'सीजर' व्यक्तिवाचक. लेकिन यह भेदक रेखाएं भी हम हिंदी के पीरियड में गड़बड़ कर जाते. शायद मंगतराम हिंदी टीचर के हाथ में मौलाबख्श देखकर. हमें पता भी न चलता कब हम व्यक्तिवाचक को जातिवाचक और जातिवाचक को व्यक्तिवाचक कह जाते और उनका चमकता मौलाबख्श हमारे हाथों पर शारीरिक दंड प्रक्रिया की ताजा लाल लकीरें उकेर देता. हम दोनों हाथ दोनों बगलों में दबाये बैंच पर आकर बैठ जाते. घंटी बजते ही रणजीत वगैरा चिल्लाते, "दो पइयां विसर गईआं यारां दीआं दूर बलावां." राजू ने एक बार अपनी नोट बुक में लिखा था, "नन्हें बच्चे तेरी मुट्ठी में क्या है, मुट्ठी में है मौलाबख्श की मार, हमने जिसको हंस कर लिया है."

मेरे लिए उसे भूल पाना मुश्किल हो जाता. घर में व्याकरण पढ़ते वक्त मेरी किताब पर मंगतराम हिंदी टीचर की छवि उभर आती—पापलीन की सफेद कमीज और लट्ठे का सफेद पायजामा जिसे वे सिर्फ वीरवार और सोमवार को बदलते थे. पांव में टायर सोल का काला जूता जिसके फीते अक्सर टूटे रहते. सीधे ऊपर की तरफ काढ़े हुए बाल. गालों पर दोनों तरफ पड़ता हुआ बल. छोटी-छोटी लेकिन हर वक्त तनी हुई आंखें. माथे पर पड़नेवाले बल अब स्थायी रूप धारण कर चुके थे. माथे के बीच छोटा-सा चंदन का तिलक. एक ही पन्ने पर मेरी नजर कितनी-कितनी देर टिकी रहती बगैर जरा भी आगे बढ़े. घर में किताब के सामने हाजिर होकर गैर-हाजिर और स्कूल में अपनी हिंदी क्लास में गैर-हाजिर होकर भी हाजिर. दोनों के बीच अगर कुछ था तो सिर्फ डर, जिसके परिणाम एकदम और स्पष्ट होकर हमारे सामने नहीं आते. इसके कई रंग हो सकते थे और प्रत्येक रंग में कई तेवर.

मुझे सर्दी लगनी शुरू हो चुकी थी. एक कंबल मुझ पर डाल दिया गया था. शीला दीदी मुझे आवाज दे रही थी. शायद कोई पैकेट मुझे देने की कोशिश कर रही थी, लेकिन अब मैं कुछ भी संभाल नहीं पा रहा था. छोटी दीदी भी आवाजें दे रही थी और वह शायद कह रही थी कि देखो दीदी तुम्हारे लिए क्या लायी है लेकिन यह सब कुछ अब मेरी पहुंच से बाहर होता जा रहा था. मैं सर्दी में बुरी तरह कांप रहा था. ठंड मेरी हड्डियों तक उतर रही थी. मैं जानता था कि पापा जब तक आयेंगे मैं बुखार के तेंदुए द्वारा पूरी तरह दबोचा जा चुका हूंगा. पापा के झोले में मुसम्मियां होंगी और वे साढ़े आठ-नौ से पहले घर आयेंगे नहीं. अपने आठ की जगह साढ़े सात भी दुकान बंद करें तब भी नहीं. उनकी लायी हुई मुसम्मियां मैं दूसरे दिन बुखार उतर जाने पर ही खा पाऊंगा. उससे पहले नहीं. देह तोड़ बुखार में अगर कुछ ठीक से किसी को जानने का मौका मिल रहा था तो पापा को. उनकी तमाम सख्तियों और गुस्से के बीच उनके प्यार को छूने का मौका मिल रहा था. जैसे बादाम या अखरोट के सख्त छिलके के बीच उसकी गुठली. अपने काम में उन्हें काफी मशक्कत पड़ती. रात को वे थके-हारे लौटते फिर मेरी हालत ने उनकी नींद हराम कर दी थी. रात को वे बार-बार उठते. मेरी बगल में थर्मामीटर दबा कर तापमान लेते. तेज बुखार में मुंह में थर्मामीटर का माप लेते उन्हें भय लगता कि कहीं मैं दबा न दूं और बाल्ब टूटकर पारा भीतर बिखर न जाये. इस पर भी वे सुबह बगैर आलस के वक्त पर उठ जाते. माल की कटाई करते. दिन निकलते-निकलते नहा-धोकर तैयार हो जाते और मुझे साइकिल पर लादकर शहर किसी न किसी डाक्टर के घर पहुंच जाते. डाक्टर को केस हिस्ट्री सुनायी जाती और पर्चियां दिखायी जातीं और किसी दूसरी दवा के लिए राय पूछी जाती. अलग लैबोटरियों से पेशाब और टट्टी के टेस्ट करवाये गये. उंगली में सुई मारकर कांच की प्लेट पर खून तो न जाने कितनी बार लिया गया. सभी रिजल्ट साफ मिलते. पापा परेशान होकर डाक्टरों से पूछते, "आखिर बीमारी की वजह क्या है?" डाक्टर के पास इसका जवाब देने की फुर्सत नहीं थी. एक से एक मरीज उनके बरामदों में पड़े थे. जवाब में या तो मुस्करा देते या लैटरपैड पर एक नंबर कैप्सूल एक सुबह, एक दुपहर, एक शाम. तीन नंबर सिरप एक टी स्पून सुबह, दुपहर और शाम. तीन दिन के बाद मरीज को फिर चैक-अप के लिए लेकर आयें. स्टैथस्कोप झुलाते हुए वे किसी अगले मरीज की ओर बढ़ जाते.

पापा मेरे लिए जरूरी दवाएं खरीदते और मुझे साइकिल पर लादकर घर की तरफ चल देते.

एक सौ एक डिग्री से पारे का निशान पार करने पर मुझे नीम बेहोशी घेरने लगती है. शुरू में एक धुंध मेरे सामने उठती है और इसे पार करते ही मैं एक घने जंगल में भटकने लगता हूं. तेज धूप में छोटे और बड़े हर तरह के पेड़ों का एक सघन संसार. हरियाली अपने खूंखार भेस में नजर आती. बड़े फलकवाले एक तेज चमकते चाकू की तरह. बिल्कुल उतनी ही भयावह. कंटीली झाड़ियां भूरे रंग की होतीं. रास्ता दुर्गम रहता. निकलकर जाने में कपड़े फट जाते और जिस्म जरा-सा रास्ता निकालने की असुविधा में लहूलुहान हो जाता. पेड़ अपनी अंतरराष्ट्रीय दोस्ती में एक-दूसरे के गले में बाहें डाले रहते. बबूल, नीम, बरगद और बांस साफ पहचाने जाते. पतली व तंग लहरें निकलतीं और इनके ऊपर पसर जातीं. भागते निकलते जिस्म ज्यादा तपने लगता. सांस उखड़ने लगती. गले में प्यास तड़प उठती. पानी कहीं नहीं होता. प्यासी नजरें कभी इधर उठतीं कभी उधर. बड़ के तने पर स्कूल के अध्यापक बैठे मिलते. उनके पास पानी की फ्लास्कें होतीं. जिस फ्लास्क से मुंह लगाते, खाली निकलती. भागते-भागते चट्टानी विस्तार शुरू हो जाता. उसके आगे चट्टानों के बीच तालाब. तालाब का पानी एकदम साफ. नीला शफाफ पानी. काली चट्टानों के बीच जैसे जड़ा हुआ मोती. पांडव यहीं पानी पीने आये होंगे. यक्ष के प्रश्नों का उत्तर न देने पर यहीं चार भाई बेहोश हुए होंगे. युधिष्ठिर ने यक्ष के प्रश्नों का उत्तर दिया.

यक्ष ने पूछा, "आदमी का सबसे बड़ा शत्रु कौन है?"

युधिष्ठिर ने कहा, "क्रोध!"

नजर झिपझिपाने लगती है. तालाब ओझल हो गया. बड़ का वही पेड़ जिस पर सिर्फ हिंदी टीचर मंगतराम बैठे हैं गुस्से में, ताजा तोड़ा हुआ हरा बांस उनके हाथों में लहरा रहा है. जिस्म पर जहां बरसेगा नीला कर देगा. वे पूछेंगे यक्ष के प्रश्नों के उत्तर किसने दिये थे? मेरे मुंह से निकलेगा, अर्जुन ने."

अचानक मुझे तेज प्यास लगी. गला जैसे जल रहा हो. टप्प! एक बूंद मेरे माथे पर गिरी. मेरी अचेतनता कुछ टूटी. शीला दीदी रो रही थी शायद बेआवाज.

दूसरी सुबह बुखार उतर चुका था. पीछे छोड़ गया था खामोशी के कुछ टुकड़े, एक गीलापन और थोड़ी कमजोरी. पापा काम पर और दोनों दीदियां स्कूल जा चुकी थीं. दीदी मेरे लिए नींबू वाली चाय लेकर आयी. एक तल्ख गुनगुनापन गिलास में था. और धूमिल-सा गुनगुनापन दीदी के चेहरे पर था. शायद रात भर जागने की वजह से. उनकी आंखें भी थोड़ी निस्तेज थीं. मैंने उनसे रेडियो लगा देने के लिए कहा. रेडियो में खान ब्रिन्ले का सितार वादन हो रहा था.

"कैसा फील कर रहे हो?" दीदी ने पूछा.

"ठीक है!"

"मैं तो डर गयी थी."

"क्या रात भर जागती रही हैं?"

"तुम्हें इस हालत में देख नींद किसे आती?"

"रोयी भी थीं?"

वे मुस्करा दीं. रोने की बात सुनकर, "तुम्हें टैगोर बहुत अच्छे लगते हैं?"

"आपको कैसे पता चला?"

"तुम रात को बुखार में बड़बड़ा रहे थे."

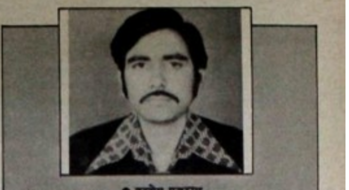

● तरसेम गुजराल

दासू एक लड़का था हमारी क्लास में. उसके दांत बाहर की ओर निकले हुए थे. हम उसे मजाक में कहा करते थे, "दासू बाहर से झगड़कर आयेगा. इसके घर के समझेंगे कि यह हंस रहा है." एक दिन हंसने की यही घटना हिंदी की घंटी में हो गयी. मंगतराम टीचर ने उससे पूछा, "नाई का स्त्रीलिंग क्या होता है?"

उसने कहा, "नाईन!"

"लिखोगे कैसे?"

उसके मुंह से निकला, "एन. आई. एन. आई."

सितंबर टेस्ट के पहले ही अंग्रेजी और मैथ के टीचर ट्यूशनों के लिए चारा डालना शुरू कर देते. जिन लड़कों के अंक कम आते उनके पेरेंट्स को बुलवाकर पढ़ाई का हौवा दिखा दिया जाता. अधिकांश पेरेंट्स डरकर ट्यूशन रखवा देते.

मंगतराम हिंदी टीचर की नजर में गणित की ट्यूशन का तो कोई औचित्य था लेकिन अंग्रेजी की ट्यूशन उनसे बरदाश्त नहीं होती थी. वे कहा करते थे, "आजादी मिलने के इतने बरसों बाद भी हम लोगों की अंग्रेजी बोलने और पढ़ने की मानसिक गुलामी नहीं छूटी. हिंदी चाहे आये न आये. येस-नो, येस-नो, करते फिरेंगे. पिता को 'पाप' और मां को 'मामा' कहेंगे. इनके पिता पाप हो गये हैं और मां मामा. मां-बाप भी बच्चों को अंग्रेजी की ट्यूशन तो रखवा देते हैं लेकिन कभी किसी के मां-बाप ने हिंदी नहीं आने की परवाह की है. बच्चा हिंदी में बेशक अंडा लेकर आये वे उसे कहेंगे उबालकर खा और अंग्रेजी में पढ़ ई. जी. जी. एग, एग माने अंडा. क्योंकि इस देश में अंग्रेजी पढ़े बिना कोई बड़ा अफसर नहीं बन सकता."

ऐसे टीचर के सामने मिसेज नाई के हिज्जे अंग्रेजी में करके उसका अर्थ से अनर्थ कर देना कैसे चल सकता था. हम समझ गये कि दासू की शामत आयी है आज. मंगतराम टीचर का पारा थर्मामीटर पार कर गया है. मौलाबख्श उनके हाथों में मचल रहा था.

"कुत्ते! हाथ निकाल, हाथ, नहीं तो हड्डी तोड़ दूंगा."

दासू कभी एक हाथ पर खा रहा था, कभी दूसरे पर. वह हाथ भींच लेता तो वे फिर कहते—"हाथ निकाल हाथ."

अचानक उनकी नजर दासू के चेहरे पर पड़ी. उसके बाहर निकले हुए दांत उन्हें व्यंग्य करते नजर आये.

"आगे से हंस रहा है. छोड़ूंगा नहीं."

दासू ने लाख कहना चाहा कि वह हंस नहीं रहा, उसका चेहरा ही ऐसा है लेकिन जब तक वह कह पाता और गुस्से में ठुकाई करते हुए मंगतराम उसकी बात समझ पाते तब तक कम-अज-कम बारह डंडे उसके हाथों पर बरस चुके थे.

अगले दिन दासू के दोनों हाथ सूजे हुए थे. वह अपना गुस्सा मंगतराम टीचर पर तो निकाल नहीं सकता था इसलिए उसने मौलाबख्श पर उतारा.

शेष पृष्ठ65 पर जारी. . .

वित्तीय विषयों पर हिंदी में मौलिक लेखन

के लिए

वित्तीय साहित्य पुरस्कार योजना

वित्त मंत्रालय से संबंधित विषयों (प्रत्यक्ष कर, अप्रत्यक्ष कर, बैंकिंग, जीवन बीमा, साधारण बीमा, मुद्रा व सिक्का-ढलाई, लोक-वित्त, विनिमय नियंत्रण, विक्रय कर, नारकोटिक्स, स्वर्ण नियंत्रण तथा विदेशी सहायता आदि) पर हिंदी में मौलिक लेखन को प्रोत्साहन देने के लिए वित्त मंत्रालय द्वारा प्रति वर्ष

प्रथम पुरस्कार	5,000 रु.
द्वितीय पुरस्कार	3,000 रु.
तृतीय पुरस्कार	2,000 रु.

के तीन नकद पुरस्कार दिए जाएंगे. भारत के सभी नागरिक इसमें भाग ले सकते हैं. इस वर्ष पुरस्कार के लिए अप्रैल, 1985 से मार्च, 1986 तक की अवधि में प्रकाशित पुस्तकें अथवा पांडुलिपियां विचारार्थ स्वीकार की जाएंगी. पूर्ण विवरण और प्रपत्र उप सचिव/निदेशक (प्रशासन) एवं सचिव, वित्तीय साहित्य पुरस्कार समिति, वित्त मंत्रालय, राजस्व विभाग, नार्थ ब्लाक, नई दिल्ली से प्राप्त किया जा सकता है.

प्रविष्टियां भेजने की अंतिम तिथि

इस पुरस्कार के लिए प्रविष्टियां मोहरबंद लिफाफे में निर्धारित प्रपत्र में प्रकाशित पुस्तकों अथवा पांडुलिपियों की 6 प्रतियों सहित, उप सचिव (प्रशासन) एवं सचिव, वित्तीय साहित्य पुरस्कार समिति, वित्त मंत्रालय, राजस्व विभाग, नार्थ ब्लाक, नई दिल्ली को 30 जून 1986 तक भेज दी जानी चाहिए.

डीएवीपी 531 (174) 85

संवाद

नरेंद्र मौर्य

'क्या इस देश में कोई ऐसा महकमा है जहां खाली-पोली काम होता है ? . . . भ्रष्टाचार के अलावा समाज-वाद तक जाने का क्या सचमुच हमारे पास कोई दूसरा रास्ता नहीं है . . . ?' अपने समय के महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाती, युवा कथाकार नरेंद्र मौर्य की विचारोत्तेजक कहानी—

प्रश्नों का यह सिलसिला भी अजीब है. एक बार शुरू, तो थमने का नाम ही नहीं लेता. हालांकि मैं उन्हें बार-बार थपकियाती हूं. कई बार उन पर बरस भी पड़ती हूं अथवा उन्हें बाहर निकालकर मन के दरवाजे पर कुंडी चढ़ा लेती हूं. किंतु वे हैं कि कंबख्त दिमाग की दीवारों से उचक-उचककर झांकते ही रहते हैं.

उनकी यह चिल्लपुकार मुझे पूरी दोपहर सोने नहीं देती. रात को अखबार का अंतिम पृष्ठ ओ.के. होते-होते साढ़े बारह, घर पहुंचने तक एक और बिस्तर तक जाते-जाते दो का गजर बज ही जाता. थकान के मारे अब तक हाल कुछ इस तरह होता है कि नितिन का संभावित प्रस्ताव भी आतंक-सा लगता है. अक्सर उसे टाल देती हूं और वह अच्छे बच्चे की तरह मान भी जाता है. किंतु अगली रविवारीय दोपहर का वादा लेकर.

रविवार के दिन हमारे पास समय होता है. ढेर सारा समय. प्रीति को हॉस्टल में डालने के बाद तो नितिन के लिए यह उत्सव जैसा होता है. आज वह मुझे इत्मीनान से समझाता है. पहले उसकी समझाइश में दुलार था. अब खीज बढ़ती जा रही है. पिछले रविवार तो वह लगभग चिढ़ गया, "दोपहर भर बैठकर जाने क्या-क्या गढ़ती रहती हो. अखबार की नौकरी में तो यही सब होता है. मैंने इसीलिए कहा था कि मेरे साथ काम करने के मोह में अखबार मत ज्वाइन करो और अब तुमने दिन में नींद लेने की आदत नहीं डाली, तो पागल हो जाओगी. तुम समझती क्यों नहीं, नींद हमारी ऐसी जरूरत है, जिसे टाला नहीं जा सकता."

मैं सफाई देने की कोशिश करती हूं, "मैं सोती तो हूं, लेकिन नींद आती ही नहीं. दिमाग में जाने क्या क्या चलता रहता है?"

नितिन जानता है, मेरे दिमाग में चलने वाले अंधड़ को. हमारी उस पर चर्चा भी हुई है. किंतु नितिन उस पूरे प्रकरण के प्रति तटस्थ है. हालांकि अखबार की खबर की तरह उसने सब कुछ सुन लिया है. वह अपनी रविवारीय दोपहर को भी इस बहस में खराब नहीं करता. अपनी खुराफातों में लगे रहकर ही उसने मुझे समझाया था, "यकीनन वे तुम्हारे पिता हैं. किंतु हमारा परिवार अब उनसे कतई संबद्ध नहीं है. हम इस समाज की एक स्वतंत्र इकाई हैं. उनकी किसी उपलब्धि अथवा ऋणात्मक इमेज का हम पर भला क्या प्रभाव पड़ेगा?"

उसके तर्क मेरी समझ से परे हैं. क्या नितिन के अपराधी सिद्ध होने अथवा कोई और इसी स्तर का बखेड़ा खड़ा करने का असर प्रीति पर नहीं पड़ेगा? क्या वह पांच साला बच्ची भी इसे अखबार की खबर की भांति ही ले सकेगी? किंतु मैं जानती हूं कि नितिन अपने तर्कों पर मेरी बात को तरजीह नहीं देगा. उसने मुझे बहुत प्यार से समझाया था, "इन झमेलों पर आप चीखना चाहें, तो चीखते रहिये . . . अपना गला बस्ट होने तक. क्या हम असंबद्धता-असंगति पर सोचे बगैर नहीं रह सकते? क्या पूरे समाज का दार्शनिक होना जरूरी है? हम जैसे सामान्य लोगों के लिए मूल्यों-सिद्धांतों की बहस के बजाय समय पर आफिस जाना, आफिस में बगैर किसी को नाराज किये काम करना ज्यादा जरूरी है."

मुझे ताज्जुब होता है. शायद यह नितिन नहीं, एक बहुत थके हुए आदमी की आवाज है. सचमुच नितिन बहुत थक गया है. भागते-भागते. बंबई से कलकत्ता, कलकत्ता से दिल्ली तक. एक ऑफिस से दूसरे ऑफिस की खाक छानते-छानते. एक नौकरी ज्वाइन करने के दिन ही दूसरे के लिए अर्जी देते . . . कितना तीखा हुआ करता था नीतिन उन दिनों. एडजेस्टमेंट के नाम पर ही खीज जाने को तैयार, और अब? यह आफिस

ज्वाइन करने के बाद, उसने ठोस घनी, धुंध की तरह कुछ अजीब-सी तटस्थता ओढ़ ली है. मैं उसे आफिस में एक पुर्जे की तरह निर्द्वंद्व काम करते देखती हूं.

कभी-कभार मैं नितिन की तटस्थता का मजाक भी उड़ाती हूं. वह मुस्कराकर टाल जाता है या फिर दर्शन के गलियारों में घुस जाता है, जहां उसके अथाह अध्ययन और अचूक तर्क सृष्टि के सामने मुझे न चाहते हुए भी घुटने टेकने ही पड़ते हैं.

ऋतु ने पिता के संदर्भ में जो कुछ लिखा था, वह विश्वसनीय नहीं था. किंतु ऋतु अपनी ओर से कुछ जोड़-बनाकर लिखे, यह भी संभव नहीं था. ऋतु मेरी बचपन की मित्र है. इतने गंभीर मामले में वह गैर-जिम्मेदारी नहीं बरत सकती. घटना की गंभीरता से दरकिनार एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी था कि आरोप जिस व्यक्ति पर लगाया गया था, वे मेरे पिता थे. फिर पिता की ओर से भी मुझे किसी तरह की कोई सूचना नहीं थी. हालांकि वे पत्र-व्यवहार के मामले में हैं ही अलाल.

मेरी पहली प्रतिक्रिया ऋतु की रिपोर्टिंग पर थी कि वह अपनी तमाम सतर्कताओं के बावजूद किसी राजनैतिक पैंतरेबाजी का शिकार हुई है. हालांकि दिमागी तौर पर मुझे त्रस्त कर देने वाला तथ्य यही था कि उस छोटे शहर में पिता के खिलाफ ऐसा सब क्यों प्रचारित हुआ?

मेरा अपना अनुभव पिता को लेकर बहुत मधुर है. उन्होंने हमेशा मेरी इच्छा अथवा अपेक्षा को पर्याप्त स्नेह दिया है. मेरी एजूकेशन दिल्ली जैसी बड़ी जगह और महंगे स्कूलों में करायी. नितिन से मेरे विवाह को लेकर भी उन्होंने कोई बहुत बड़ी जिद नहीं की. बाद में तो वे हमारे अदालती विवाह में शरीक भी हुए. मेरे विवाह के लिए तयशुदा रकम भी उन्होंने मेरे नाम फिक्स्ड डिपाजिट में डाल दी. वहां मैं छुट्टियों में, जब भी उनके साथ रही, किसी के साथ तेज तर्रार बात करते भी उन्हें नहीं देखा. फिर वे विरोध की राजनीति करते हैं. जबकि देखा यह गया है कि धपलों, कारगुजारियों में सत्ता की राजनीति करनेवाले ही अक्सर संबद्ध होते हैं.

बहरहाल, मैं बेहद उत्तेजित थी. मैं नितिन-सी तटस्थता प्रयास के बावजूद जुटा नहीं पा रही थी. बेचैनी की हद पर जाकर मैंने निर्णय लिया कि रविवार के साथ तीन-चार छुट्टियां और जोड़कर मैं पिता से मिल ही आऊं. नितिन मेरी मानसिकता समझता था और उसने मेरे इस कार्यक्रम पर सहर्ष सहमति भी दे दी.

हमेशा की तरह पिता बड़े स्नेह से मिले. मैं भी भावुक हो उठी. मुझे लगा कि पिता जैसे स्नेहिल और सात्विक व्यक्ति को ऐसे किसी बखेड़े से जोड़ना उचित नहीं है. घर में व्याप्त अथाह शांति को देखकर मैंने उस विषय पर चर्चा करना भी जरूरी नहीं समझा.

पहले की तरह शाम को पिता अपनी गप्प-गोष्ठी में जमे थे. उनके मित्रों में कोई नया नहीं था. एक वे ही हमारे पड़ोसी विपिन चंद्रजी, रिटायर्ड प्रोफेसर और दूसरे दरोगा राय अंकल. दरोगा राय अंकल सत्ता दल के आधार स्तंभ हैं. पिताजी विपक्ष के पार्टी जिलाध्यक्ष. हालांकि चुनाव के दिनों में वे एक दूसरे की अपने अपने मंचों से जमकर खिंचाई करते हैं. किंतु चुनावी वातावरण थमते ही उनकी गप्प-गोष्ठी उसी तरह नियमित जमने लगती है.

ऋतु को सूचना मैं भिजवा ही चुकी थी. मैंने किचेन में जाकर रामदास को चाय आदि ले जाने के लिए कहा और ऋतु के घर चल पड़ी. उसका घर पास ही है. दस मिनट की पैदल दूरी. रास्ते भर निगाह परिचित चेहरों को टोहती रही. विगत से जुड़े संदर्भ स्मृति में ताजे हो गये. यद्यपि सड़क, मोहल्ले, मकान सब कुछ बदल गये थे. बावजूद वे परिचय की गंध से एकदम अछूते भी नहीं थे.

ऋतु मेरा इंतजार कर रही थी. वह बड़ी पुलक कर मिली. उसके साथ ड्राइंग रूम में एक प्राध्यापक दंपति भी बैठे थे. ऋतु ने उनसे मेरा औपचारिक परिचय कराया. वे मुझे कुछ अतिरिक्त गंभीर लगे. ऋतु ने ही मेरा समाधान किया, "हम लोग कुछ दूसरी चर्चा कर रहे थे."

सहज ही मैंने पूछ लिया, "कैसी?"

प्राध्यापक महोदय शुरू ही गये, "देखिए, आदमकद यदि कुछ हुआ है तो अभाव. बाकी तमाम सरोकार बौने होते जा रहे हैं. सुविधा की फेहरिस्त तो लंबी चौड़ी प्रसारित होती है, किंतु व्यवहार में जगह-जगह निषेध लग रहे हैं."

उनकी श्रीमति ने जोड़ा, "संबंधित महकमे भी लंबी पूछ-पड़ताल के बाद जानकारी देते हैं कि यह सब सार्वजनिक हितों को सुरक्षित रखने के प्रयासों के तहत है. इससे अधिक जानाकारी देना जनहित में संभव नहीं है. गोपनीयता और जनहित के नाम पर, सत्ता के ये जंगल इतने सुरक्षित हैं कि आप इनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते." ऋतु कहने लगी, "अब दिक्कत केवल इतनी ही नहीं कि मुश्किल बढ़ रही है बल्कि मुश्किल यह है कि सुविधा के नाम पर दिक्कतें परोसी जा रही हैं."

प्राध्यापक महोदय ऋतु से सहमत थे. उन्होंने कहा, "स्थिति इतनी बदतर हो गयी है कि आदमी की सोच और व्यवहार में जिंदा रहने की शर्तें एकदम विपरीत दिशा में काम करने लगी हैं. यहां तक कि आदमी खुद बंट गया है. उसके संस्कार कुछ कहते हैं, वह करता कुछ और है."

एक तो भूमिका का अभाव, दूसरे स्लोगन शैली में की जाने वाली यह बातचीत, मैं संदर्भ ही नहीं समझ पा रही थी. बावजूद इसके मैंने कहा, "आदमी क्यों करता है ऐसा... जिसके लिए उसके संस्कार उसे कोसें?"

प्राध्यापक महोदय कहने लगे, "व्यावहारिक दुनिया सचमुच बड़ी विचित्र है. अब आपके पिताजी को ही देखिए ना, कितने संस्कारवान पुरुष हैं किंतु ये ऋतु बहनजी नाहक उनके पीछे पड़ गयीं. यदि सचमुच उस बखेड़े में कहीं, जाने-अनजाने में उनका हाथ है भी, तो ये सब व्यावसायिक दुनिया की प्रतिस्पर्धा के झगड़े हैं. हम क्यों इन झंझटों में पड़ें?"

मैं स्थिति भांप गयी. निश्चित ही यह प्राध्यापक महोदय पिता की देखभाल में चल रहे सोसायटी के कालेज से संबंधित हैं और ऋतु को अखबार में उस लफड़े को उछालने की निस्सारता पर भाषण देने आये हैं. मेरी तमाम खीज को दिशा मिल गयी. मैंने कहा, "आप सीधे-सीधे क्यों नहीं कहते कि पिता की ओर से ऋतु को समझाने आये हैं कि वह उस बखेड़े के संबंध में न लिखे."

सकपकाते हुए उन्होंने कहा, "नहीं-नहीं, हम ऐसा कदापि नहीं चाहते. हमें इन सब चीजों से क्या मतलब? हम किसी स्थानीय झगड़े में नहीं पड़ते. हम लोग तो वैल्यूज पर डिसकस कर रहे थे."

ऋतु बीच में कूद पड़ी, "मुश्किल तो यही है कि हमारा बुद्धिजीवी समाज किसी स्थानीय मामले में नहीं पड़ना चाहता. सामने हत्या होती रहे, लोगों को जिंदा जलाया जाये, किंतु ये आंख बंद करके निकल जायेंगे—सीधे काफी हाउस. वैल्यूज पर डिसकस करने."

प्रोफेसर गुप्ता ने बड़ा मासूम-सा तर्क दिया, "तो क्या हम अपना पढ़ना लिखना छोड़कर हत्यारे और मरने वाले के बीच में जाकर खड़े हो जायें?"

ऋतु अब खुल गयी. उसने कहा, "हम अपने आसपास की घटनाओं के प्रति इस तरह तटस्थ, निर्विकार अथवा स्थितिप्रज्ञ कैसे बने रह सकते हैं? इस गोदाम-कांड को सारा शहर जानता है कि भरे हुए गोदाम का बीमा करवाया गया था. स्थानीय लोगों पर अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर रातोंरात गोदाम खाली हुए और बड़े योजनाबद्ध तरीके से उसमें आग लगी. आपका बुद्धिजीवी समाज कुछ नहीं कर पाया, कुछ नहीं लिख पाया. आंख मूंदे वैल्यूज पर डिसकस करता रहा. वियतनाम युद्ध की भर्त्सना करता रहा, मानव अधिकार पर अपना प्रस्ताव पारित कर संयुक्त राष्ट्र संघ को भेजता रहा या फिर स्टारवार कार्यक्रम पर चिंतन करता रहा."

प्राध्यापक दंपति सकपका गये. उन्होंने घड़ी देखी और असुविधा बताते हुए उठ खड़े हुए. ऋतु भी सहज हो गयी और उन्हें दरवाजे तक विदा कर आयी. दरअसल बुद्धिजीवी समाज का यह आत्मघाती रवैया

नरेंद्र मौर्य

है. कुछ घटनाएं समस्या का दर्जा केवल इसलिए पा जाती हैं कि हम मूल्यों की चिंता में बकझक करने वाले काफीहाऊसी क्लास के लोग, व्यावहारिक स्तर पर उनमें रुचि जाहिर करने में हिचकते हैं.

अब तक चाय आ गयी थी. मैंने ऋतु से गोदाम देखने चलने की इच्छा जाहिर की. उसे भला क्या आपत्ति थी? उसने किसी को रिक्शा लेने भेज दिया. ऋतु से मिलकर मुझे बेहद प्रसन्नता हुई. साथ ही संतोष भी कि आखिर कोई तो है, जो अपने स्तर पर, जो संभव है, कर रहा है.

गोदाम के सामने रिक्शा रुका. उस पूरे इलाके में मुर्दही चुप्पी थी. मुझे देखकर चौकीदार ने सलाम ठोका और गेट खोल दिया. यहां से वहां तक तमाम कालिख जमी हुई थी. शेड के टीन तक पिघलकर मुड़-तुड़ गये थे. दीवारें जगह-जगह से चटक गई थीं. बाजू के खाली मैदान के तमाम झोपड़े स्वाहा हो गये थे. जिन लोगों के जल-मरने की रिपोर्टिंग ऋतु ने भेजी थी—वे इन्हीं झोपड़ों के बाशिंदे थे.

मैंने ऋतु से पूछा, "यहां सामाजिक राजनैतिक हल्कों में इस घटना की आलोचना नहीं हुई?"

उसने कहा, "कैसे हो सकती है? अंकल स्वयं विरोध के सर्वेसर्वा हैं." मैंने फिर पूछा, "ऐसी स्थिति में सत्ता पक्ष तो जमीन-आसमान सिर पर उठा लेता?"

उसने उसी सादगी से कहा, "कैसे करते? दरोगा राय अंकल सत्ता पक्ष के सर्वेसर्वा जो ठहरे. बाजू का यह प्लाट उन्हीं का था. पचास से ज्यादा वर्षों के पुराने बाशिंदों से प्लाट खाली करवाना उनके लिए भी कहां आसान था? उनकी समस्या भी निपट गयी. मात्र कुछ दर्जन लोगों को जिंदा जला देने की कीमत पर."

शाम को पिता देर से घर लौटे. मैं स्वयं अपने कल लौट जाने का निर्णय उन्हें बताने के अलावा कोई अन्य चर्चा करने की मनःस्थिति में नहीं थी. पिता के बुलावे पर भी मैं अलसायी-सी सोफे पर पड़ी रही. पिता स्वयं ऊपर आये. उन्होंने बड़े उत्साह से बताया, "तुम्हारे प्रोफेसर शर्मा ने अपनी विद्यार्थी से विवाह कर लिया. क्या जमाना आ गया है? नैतिकता नाम को शेष नहीं रही."

मैं पिता के साथ किसी बहस में नहीं उलझना चाहती थी. फिर भी उनकी कस्बाई मानसिकता पर तरस खाये बगैर भी नहीं रह सकी. यदि कोई लड़की किसी के साथ भाग गयी है—तो यह उसका निजी निर्णय है. और यह एक ऐसा निर्णय है जिसकी वैधता अथवा अवैधता का अधिकाधिक प्रभाव केवल उस पर पड़ता है. किंतु इस मुद्दे पर इस छोटे शहर में क्रांति हो सकती है. जबकि दूसरी ओर अफसरों की लूट-खसोट, लोगों का जिंदा जला दिया जाना, शासन की संपत्ति का खुले आम निजी उपयोग जैसे सैकड़ों सार्वजनिक महत्व के प्रश्नों पर हमारे दिमाग में कोई उथल-पुथल नहीं होती. हमारे भीतर कोई आक्रोश पैदा नहीं होता. मैंने पिता से कहा, "क्या दुराचरण केवल विवाह संबंधी मुद्दों तक ही सीमित है? हमारे गोदाम जलने को लेकर जो चर्चा है, वह शर्मिंदगी का विषय नहीं है?"

उनके तेवर बदल गये. उन्होंने मुझे भरपूर नजरों से घूरा. मुझ पर अपनी महत्ता यथावत कायम देखकर वह थोड़े आश्वस्त हुए. उन्होंने सहज ही कहा, "आग लगना एक दुर्घटना है. उसमें शर्म कैसी?"

सचमुच मैं संवाद की स्थिति को टालना चाहती थी. किंतु उन्होंने प्रतिप्रश्न उछालकर मेरे भीतर अलसायी पड़ी पत्रकार को झकझोर दिया. अब मेरे लिए यह नितांत जरूरी था कि औपचारिकता छोड़कर वस्तुस्थिति सीधे-सीधे उनके सामने रखी जाये. मैंने कहा, "आग लगी नहीं, लगायी गयी है. और यह एक वहशी किस्म का दुराचरण है."

वे हंसे. फिर थोड़ा और मुखर होकर उन्होंने ठहाका लगाया. प्रसंगहीन उनका यह ठहाका मेरे अस्तित्व को चीरता हुआ आरपार हो गया. ठहाका थमते ही उन्होंने कहा, "किताबी दुनिया और व्यवहार के जोड़-घटाने में बहुत अंतर होता है. आर्थिक दुराचरण या भ्रष्ट आचरण के मायने भी जानती हो? हमारे समाजवादी ढांचे की बुनियाद है भ्रष्टाचार. तुम्हें मालूम है कि दरोगा राय के बेटे ने जेवर निर्यात लायसेंस की आड़ में खूब कमाया. बीस लाख मासिक बचत थी उसकी. इस तरह वह बहुत बड़ा पूंजीपति बन सकता था. उसके तरह के तमाम लोग पूंजीपति बन सकते हैं. देश से समाजवाद का नाम उठ सकता है. किंतु ऐसा नहीं होने दिया जाता. बीस लाख की मासिक बचत में से उसके पास केवल दो लाख बचते हैं. शेष रकम का दरोगा से लेकर गृहमंत्री तक इस समाजवादी ढंग से विभाजन होता है कि सर्वोदयी तक इस स्वस्थ वितरण परंपरा के कायल हो जाते हैं और देश में समाजवादी समाज बना रहता है."

वे बात को अपनी सुविधा की ओर घसीट रहे थे. मैंने पूछा, "भ्रष्टाचार के अलावा समाजवाद तक जाने का क्या हमारे पास कोई दूसरा रास्ता नहीं है?"

उन्होंने पूरे विश्वास के साथ कहा, "नहीं, नेवर, नाट एट ऑल. देखो बेटे, इस देश में कोई महकमा है जहां खाली-पीली काम होता हो? कचहरी, पुलिस, रेलवे की बर्थ या बोगी, फूड कार्पोरेशन, कागज का कोटा, नौकरी, परमिशन, परमिट, ठेका, चंदा, यहां तक कि स्कूल का एडमिशन, प्रायवेट फंड की वापसी तथा लंबी छुट्टी के वेतन तक की स्वीकृति में जो बंदरबांट मची हुई है... क्या इस सबसे हमारे देश के चार-चार प्रमुख अवगत नहीं थे?"

"थे, बखूबी थे. वे मानते थे कि देश को समाजवाद की ओर ले जाने के लिए यह सब जरूरी है. उनकी स्वीकृति सहमति से ही सारा संचार चलता था."

अब उनके तर्क बेहूदगी की सीमा पार कर चुके थे. इसी बीच टेलीफोन की घंटी घनघनायी और वे नीचे चले गये. शायद उन्हें किसी बेहद जरूरी टेलीफोन का इंतजार था.

जेहन में एक तरफ पिता के प्रति खीज थी. दूसरी ओर हारे थके नितिन की लादी हुई तटस्थता मेरे लिए भारी हो रही थी. मुझे करने के लिए कुछ सूझ भी नहीं रहा था और मैं बगैर किये रह भी नहीं सकती थी. बहरहाल मेरे भीतर की पत्रकार चौकन्नी थी. मैंने दीवानजी से पूछताछ कर आवश्यक सामग्री जुटायी. ऋतु ने कुछ आवश्यक चित्र आदि की व्यवस्था भी कर दी.

घटनाओं-समाचारों को हम अक्सर छापते हैं. आखिर क्या असर होता है उस सब का. किंतु असर कुछ भी हो, होता तो है. असर नहीं होगा यह मानकर अपनी सीमाओं में जो कुछ संभव है, वह भी न करना, तो उचित नहीं.

फिर ऐसा संभव भी कैसे है कि आदमी पूरी ताकत से चिल्लाये और कोई उसका नोटिस ही नहीं ले? जब मैं चिल्लाऊंगी तो नितिन भी देर-अबेर मेरे साथ चिल्लायेगा ही, ऋतु भी चिल्लायेगी. और जब हम तीनों चिल्लायेंगे तो कुछ दूसरे बेसुरे गले भी हमारी आवाज में आवाज मिलायेंगे ही. मेरे पास केवल आस्था होनी चाहिए.

मैंने अटैची जमाना प्रारंभ कर दिया.

● गढ़ीपुरा, हरदा (म. प्र.) □

छुट्टी का एक दिन

केशव

वह एक छुट्टी का दिन था.

धूप कई दिन बाद निकली थी, निस्संकोच, हर चीज की ओर बढ़ती, लिपटती, बिना किसी गर्ज. अपने को और-और खोलती. अपने को बांटने के सुख में विभोर. इंच-इंच सरकती, धूप.

हवा पतली पड़ गयी थी. लेकिन अभी एक तीखापन था उसमें. ताजगीभरा तीखापन. तीखेपन के बावजूद हवाघर की छत के चमकीलेपन में बिना कोई खरोंच लगाये इधर-उधर आ-जा रही थी हवा, निहायत बेफिक्री से.

बर्फ के सामने वाले पहाड़ के नंगेपन को सिर से पांव तक ढांप रखा था. अलबत्ता धूप की प्रतीक्षा में ठिठुरती लक्कड़ बाजार की छतों और रेलिंग पर बर्फ की इक्का-दुक्का मटमैली चिंदियां चिपकी हुई थीं, जैसे सड़क पर चलते हुए बाबू के कपड़ों पर कोई चमचमाती गाड़ी कीचड़ के छींटे छोड़ गयी हो.

ठंड धीरे-धीरे, पर एक झिझक के साथ अपने पांव सिकोड़ रही थी.

रिज मैदान अपनी पीठ पर जमी सन्नाटे की पपड़ी को पदचापों से तोड़ने में जुट गया.

पहाड़ी शहर एक बच्चे की तरह धूप की गोद में खिलखिला रहा था. दिनों बर्फ की सफेदी में कहीं कोई लकीर या दरार पड़ने की बेसब्र प्रतीक्षा के बाद अगर ऐसा खुला-खुला और चमकीला दिन आये और वह भी छुट्टी का दिन हो तो हर कोई निकल पड़ता है धूप की तलाश में. किसी ऐसी जगह, जहां वह धूप के पास विस्तार में किसी से बतियाते अपने अंदर जमे अकेलेपन को अनायास खर्च सके, जहां वह गांठों का पिघलना महसूस कर सके, जहां वह अपनी परछाईं को आगे-पीछे चलता देख सके. बर्फ का हिस्सा होना किसी सैलानी के लिए उसकी जिंदगी का अविस्मरणीय अनुभव हो सकता है, जिसे कैमरे में कैदकर वह ताजिंदगी उसका लुत्फ उठा सकता है. लेकिन बरसों बर्फ के घर में रहनेवाला कभी-कभी इस अनचाही 'बोझ' को झटककर इससे मुक्त होना चाहता है. मेरे जैसे अक्सर अकेले रहनेवाले व्यक्ति के लिए ऐसे दिन की अहमियत कुछ और बढ़ जाती है.

घर से रिज तक की दूरी को एक छलांग में पार कर लेने की सीने में गुब्बारे की तरह फूलती व्याकुलता पैरों में उतर चली थी. हालांकि दूरी तो उतनी ही थी, जितना उसे होना चाहिए था. लेकिन दूरी जब भीतर कहीं लकीर-सी खिंच जाती है तो उसे कभी पार न कर पाने का एक बेमानी-सा भय रह-रहकर उग आता है. अपनी खुरदुरी उंगलियों से आदमी को टटोलता रहता है. भीतर, कहीं गहरे, जिसकी निशानदेही करना आदमी के बस में नहीं होता.

दिनों भीतर अभी फुसफुसाहटों, ठहाकों और दूसरों को मौका दिये बिना सब कुछ उलीच देने की एक निर्मम, पर निश्छल खुशी ने रिज मैदान को अपनी गिरफ्त में ले लिया था. रिज अगर एक बहुत बड़ा हाल होता तो लगता, यहां विक्षिप्तों की कोई कांफ्रेंस हो रही है. लेकिन आसमान के नीचे इस विस्तार में यह शोर भिनभिनाहट भर ही रह जाता था. वह भी लोगों के कद से थोड़ा ऊपर उठकर हवा में कुछ ऐसे घट जाता, जैसे बर्फ की पहली-पहली फाहियां जमीन छूते ही अस्तित्वहीन हो जाती हैं.

रिज के दोनों तरफ के सीढ़ीनुमा बेंच और इधर-उधर बेंचों को देखकर लगता था मानो अरसे से नंगे वृक्ष अचानक पत्तों से भर उठे हों. बेंचों पर बैठे लोग खुश थे कि धूप की तलाश में रिज को नापते कदमों में उनके कदम शामिल नहीं हैं. बैठने भर की जगह चुराने के अपराध से मुक्त वे आंखें मूंदकर धूप को 'सिप' कर सकते हैं.

जगह मिल जाने के सुख को चेहरों पर चिपकाये, अपने में डूबे, आस-पास से बेखबर लोग. धूप ने न जाने शहर के किस-किस कोने से लाकर, यहां एक दूसरे के निकट बिठा दिया था. एक दूसरे से बतियाते हुए भी अचानक चौंकते थे, जैसे कोई चीज, जिसे वे पीछे छोड़ आये हैं, उन्हें पीछे खींचने लगती हो.

उनके इस आत्मसुख में सेंध लगाने की फिलहाल न तो मेरे पास कोई क्षोभ थी, न जिज्ञासा. अलबत्ता इतनी भर ईर्ष्या जरूर कुरेदने लगी थी मुझे कि मैं भी बैठने भर को कहीं जगह पा जाता.

इससे पहले कि यह ईर्ष्या मुझे दबोच लेती, रिज मैदान को रौंदते कई जोड़ी पैरों से अपने पैर निकालकर मैं दौलतसिंह पार्क की ओर बढ़ गया. मुझे मालूम था कि धूप पार्क में जरा देर से आती है.

कुल तीन पत्थर की बेंचें थीं पार्क में, धूप की प्रतीक्षा में ठिठुरती. किनारे खड़ा पेड़ अभी धूप को अपनी मुट्ठियों में से निकलने नहीं दे रहा था. दो बेंचें आमने-सामने थीं, जिन पर स्त्री और पुरुष भी आमने-सामने डटे हुए थे. तीसरी बेंच अपने सवार की प्रतीक्षा में ऊंघ रही थी.

मैं बिना इधर-उधर देखे झटपट से तीसरी बेंच पर जा बैठा. पत्थर के अंदर जैसे घात लगाये बैठी ठंड ने मुझे एकबारगी चीर-सा दिया. पर जल्द ही देह की गरमाई एक तह की तरह ठंड की उस तीखी लकीर पर बिछने लगी.

अचानक एक छोटा-सा कुत्ता कहीं से आकर मेरे पैरों पर लोटने लगा. मैं झुककर उसके सफेद-मुलायम, लंबे-लंबे बालों को सहलाने लगा. थोड़ा-सा इस भय से भी कि पुचकारने से उसकी काटने की आदत, अगर है तो, कुछ ढीली पड़ जाये. जानवरों में शायद दूसरे के भय, गुस्से, आक्रामकता या प्यार को जल्दी भांप लेने, सूंघ लेने की क्षमता आदमी से कहीं अधिक होती है.

कुत्ता सहलाहट के सुख और मेरी उंगलियों से रिसनेवाले अपनेपन से भीग-सा गया था. वह आगे के दोनों पैर मेरे घुटनों पर रखकर ऊपर उठने के लिए मचलने लगा. उसके इस आग्रह को मैंने एक हल्की-सी झिझक के साथ स्वीकार कर लिया.

कुत्ता अब मेरी गोद में था. वह अपनी छोटी-छोटी पनीली और कुछ-कुछ चकित-सशंकित आंखों से मुझे देख रहा था.

"पम्मी."

एक धीमी अधिकारपूर्ण पुकार ने हम दोनों को चौंका दिया.

"यह हमारा पम्मी है."

लगभग-चार बरस की एक बच्ची मेरे सामने खड़ी थी. आंखों में कुछ ऐसा भाव लिये कि उसका पम्मी मेरी गोद में क्यों कर है! उसकी पतली-तीखी नाक की नोंक सुर्ख हो रही थी. बालों में एक लाल रिबन फरफरा रहा था.

वह दोनों हाथों को कूल्हे पर रखे तनकर खड़ी थी. उसकी इस मुद्रा पर मुझे हंसी आ गयी.

"पम्मी!" इस बार बच्ची ने अपनी आवाज में दबाव ठांसने की कोशिश की थी. मेरे हंसने ने उसे जरा भी विचलित नहीं किया था.

कुत्ता अचानक मेरी गोद से निकलकर एक ही छलांग में बच्ची के पास पहुंच गया.

बच्ची की खिलखिलाहट सरसों के दानों की तरह आसपास बिखर गयी. वह अपने नन्हें-नन्हें हाथों से तालियां बजाती उछलने लगी, जैसे मुझे चिढ़ा रही हो, "देखा, मजा चखा दिया न!"

"हमें बहुत अच्छा लगा आपका पम्मी." मैंने कहा.

बच्ची ने झट से कुत्ते को अपनी गोद में उठा लिया. उसको हल्के से गर्दन के पास चूमा. फिर नजरें ऊपर उठायीं. इस बार मुस्कराहट उसके होठों पर नहीं, आंखों में थी.

"आपका नाम क्या है?"

बच्ची की आंखों में जिज्ञासा उमड़ी. वह मेरे पास सरक आयी. पम्मी उसकी गोद में ही था, कभी अपनी नन्हीं मालकिन, कभी मुझे देखता, इस खेल का मजा-सा लूटता.

"सपना".

बच्ची ने परिचय की डोरी खोलकर एक सिरा मुझे थमा दिया.

"बड़ा अच्छा नाम है."

मैंने खींचकर उसे अपनी गोद में बिठा लिया. वह कुनमुनायी और कुत्ते को पूरी ताकत से बाहों में भींच लिया, इतने जोर से कि वह कुंकुआने लगा. फिर न जाने क्या सोचकर कुत्ते को गिरफ्त से निकल जाने दिया. छूटते ही वह देह को झटकारकर बेंच के गिर्द चक्कर काटने लगा.

"किसने रखा आपका यह सुंदर-सा नाम?" मैंने बच्ची की ठुड्डी को अपनी ओर मोड़ते हुए कहा.

उसकी आंखों में दोस्ती का अंकुर फूट पड़ा था.

"मम्मी ने." कहते ही जैसे उसे कुछ अचानक याद आ गया. वह मेरी गोद से उतरकर फुदकती हुई सामनेवाली बेंचों की ओर चली गयी. कुत्ता भी उसके पीछे-पीछे हो लिया.

"मम्मी, हम आइसक्रीम खायेंगे." बच्ची बेंच पर बैठी स्त्री से बोली.

स्त्री कोई किताब पढ़ने में डूबी थी. उसके सामने बैठे पुरुष की आंखें भी पुस्तक के पन्ने चाट रही थीं.

किनारे खड़े पेड़ ने सूरज को कुछ ऊपर उछाल दिया था.

कहानी में काल अगर खनकता न हो, परिवेश अगर बजता न हो तो वह कहानी ही क्या? पहाड़ों पर रहनेवाले लेखकों की कहानियों में पहाड़ी परिवेश का जीवन-संगीत न सुना जा सके तो उन कहानियों की सार्थकता ही क्या? प्रस्तुत है पहाड़ी शहर की जीवंत तस्वीर पेश करती हिमाचल प्रदेश के चर्चित कथाकार केशव की ताजा कथा रचना—

धूप ने गठरी खोलकर सुनहरी कार्पेट बैंडघर की सीढ़ियों के जंगले तक बिछा दी थी. धूप की कुछ कतरनें जंगले के छिद्रों से लिपटती हुई बैंडघर के फर्श पर बिखर गयीं.

"चलिए न मम्मी." बच्ची मचल रही थी.

"डोंट बी सिल्ली सपना." पुरुष की आवाज में खीझ थी. ठीक वैसी ही, जैसे किसी को गहराई से निकलकर एक सपाट दीवार का सामना करना पड़ रहा हो.

"जिद नहीं करते बेटे, आइसक्रीम से ठंड खा जाओगी." स्त्री के शब्द जैसे मजबूरी के गाढ़े लेप में लिपटे हुए थे, जैसे उन्हें बेटी के जेहन से चिपकाने के लिए ही उसकी तरफ ढकेला गया हो.

इतना कहकर वह बेटी के प्रति अपनी जिम्मेदारी से आश्वस्त पुनः पुस्तक के किसी लबालब प्रसंग में गोता लगा गयी थी.

अचानक बच्ची ने जमीन पर जोर से पैर पटके, "तो मैं अंकल के साथ जाऊंगी." बच्ची ने जैसे दोनों को सुनाने भर के लिए कहा. फिर मां बाप की प्रतिक्रिया की परवाह किये बिना मेरे पास आ गयी.

अब की दोनों ने एक साथ मेरी ओर नजरें फेंकी. फिर दोनों ने एक दूसरे की ओर देखा.

पुरुष ने किताब बेंच पर रख दी और मेरी ओर लपका. पल भर मुझे नीचे से ऊपर तक खंगाला. उसके भावहीन चेहरे पर एक बनावटी मुस्कराहट चस्पां हो गयी.

"नॉटी गर्ल, बहुत तंग कर रही है आपको." उसने जैसे यह शब्द मुझसे नहीं कहे थे, किसी मूर्ति के सामने अपने डर से मुक्त होने के लिए प्रार्थना की थी, "नाट एट आल, वैसे मुझे चंदर कहते हैं."

पुरुष की आंखें थोड़ी-सी सिकुड़ीं. उसने कंधे झटकाये. फिर एक चुटकी बजाकर उंगलियों में फंसी सिगरेट से राख झाड़ दी.

"सपना, तुम पार्क से बाहर नहीं जाओगी." ये शब्द फड़फड़ाते हुए गुजर गये, हम दोनों के ऊपर से. कहकर पुरुष इत्मीनान से बेंच पर जा बैठा. एक पल दोनों ने नजरें उठाकर लापरवाही से मुझे देखा. दूसरे पल वे फिर अपनी-अपनी किताबों के हीरो-हीरोइन के साथ किसी चांदनी रात की यात्रा पर निकल पड़े.

धूप ने अपनी आखिरी तह भी खोल दी. वह मेरी बेंच को फलांगकर पार्क के गेट तक पसर चुकी थी.

मेरे अंदर चहलकदमी करती ठिठुरन अब धीरे-धीरे पिघल रही थी. एक विचित्र से गुनगुनेपन की मंद-मंद लहरों पर सारी देह डूबने-उतराने लगी थी. खामोशी का एक महीन-सा जाल मेरी चेतना के गिर्द कसता जा रहा था, जैसे कुछ कहने-सुनने की तमाम क्षमताओं को कोई अपनी नर्म-नर्म उंगलियों में लपेट, उसके गोले किसी अनजाने कोने में सहेजकर रखता जा रहा हो.

रिज से टूट-टूटकर आनेवाली आवाजें इस तंद्रा में छोटे-छोटे कंकड़ों की तरह गिर रही थीं. कभी कोई तार हल्की-सी झन्न से टूटता तो समूची चेतना में खलबली-सी मच जाती.

"पम्मी! पम्मी!"

सपना की आवाज ने मुझे इस अलस भाव से खींचकर बेंच पर ला

● केशव

पटका. मुझे थोड़ी झुंझलाहट हुई, लेकिन सपना के अपनी ओर खींचते हाथों के स्पर्श ने उस झुंझलाहट को पल भर में सोख लिया.

"अंकल-अंकल, पम्मी कहीं चला गया!"

हताशा की एक झीनी-सी पर्त ने उसके चेहरे की मासूमियत को काला कर दिया था.

मैंने उठते हुए एक बार दोनों की बेंचों की ओर देखा. स्त्री सामने बैठे पुरुष की ओर देखकर मुस्करा रही थी. उसका निचला होंठ तनिक फैल गया था. इस बेहद भड़कीली मुस्कान से जैसे उसका सारा चेहरा तप रहा था. देखते ही देखते उसकी समूची देह जैसे एक होंठ बन गयी.

शायद उसके हीरो-हीरोइन चरम बिंदु पर पहुंच चुके थे. इससे पहले कि यह आग मुझे झुलसाने लगती, मैं सपना की उंगली थामे गेट से बाहर निकल गया.

"अंकल... अगर... पम्मी... गुम... हो... गया... तो!"

सपना की हिचकियों में दबे-लिपटे ये शब्द. मुझे लगा, वह किसी भी वक्त रो देगी, "बेटे चिंता नहीं करते. अभी चलकर ढूंढते हैं." फिर सपना का ध्यान बंटाने की गर्ज से कहा, "आप स्कूल जाती हैं."

सपना कुछ नहीं बोली. बस, ताकती रही मुझे, अपलक, जैसे मेरी इस चालाकी को तोल रही हो.

फिर से अकेला पड़ जाने की आशंका ने उसके भीतर छटपटाती 'हां' को बाहर धकेल ही दिया. उसने कसकर मेरी उंगलियां पकड़ लीं.

मुझे लगा, बच्ची का यह अकेलापन हर वक्त उसके अंदर कहीं बजता रहता है. ठक्-ठक्-ठक्. कभी-कभी वह अचानक भयभीत और सहमी हुई-सी दिखने लगती है. भागकर किसी चीज को पकड़ लेना चाहती है, पूरी ताकत से. यह मैं अपनी अंगुलियों पर लगातार बढ़ते उसके हाथ के कसाव से महसूस कर रहा था.

"कौन से स्कूल में पढ़ती हैं आप."

"पम्मी मिल जायेगा न अंकल!" उसने सवाल जैसे सुना ही नहीं.

"मिल जायेगा, लेकिन पहले स्कूल का नाम बताइए."

"लारेंटो." सपना ने अनिच्छा से कहा.

"अच्छा! तब तो हम आपसे रोज मिल सकते हैं. आपका स्कूल हमारे घर के रास्ते में ही पड़ता है."

"आपका घर कहां है अंकल!

"आपके स्कूल के पास ही है."

"हम आपके घर चलेंगे." अब तक सपना के दिमाग से पम्मी पुंछ गया था.

"हलो चंदर!"

हवा घर के सामने ठीक पीछे से अपना नाम सुनकर मैं ठिठक गया. भीड़ काफी थी और हर कोई जल्दी में, एक दूसरे को ठेलता, एक दूसरे को चीरकर पार कर जाने की हड़बड़ी में. खीझता. झुंझलाता. इसलिए पुकारनेवाले का चेहरा अभी नदारद था.

तभी मेरे कंधे पर एक हाथ हथौड़े की तरह आ गिरा, "भई हम सौतेले ही सही, पर हैं तो मानुसजात ही."

अशोक था, मेरा सहयोगी.

"बड़े दिनों में दिखाई दिये. आजकल कोई चक्कर-वक्कर. अपनी बात को बीच में ही लटकाकर वह कुटिलता से मुस्कराया.

"कलाकारों को सब मुआफ होता है."

उसके शब्द गोलियों की तरह मुझसे टकरा रहे थे. अचानक उसकी नजर सपना पर पड़ गयी.

"अच्छा, तो यह बात है!" उसके चेहरे पर एक गलीज भाव खिंच गया, "समझ का तुमसे दूर पार का भी रिश्ता है क्या, बस बकते ही चले जाते हो." मैंने तल्खी से कहा.

"तुम खुशकिस्मत हो भाई, समझ भी तुम्हारे ही पास है और दूसरी कितनी चीजें भी. खिंची चली आती हैं बरबस तुम्हारी ओर." उसने खिल्ली उड़ानेवाले भाव से कहा.

"अच्छा... टा... टा..." और चला गया अपनी झुलसाती हुई मुस्कराहट छोड़कर. मुझे लगा, आज का दिन एक ऐसी मुस्कराहट को भेंट होने जा रहा है.

"चलिए अंकल." सपना के कहने के भाव ने मुझे उस स्थिति में धंसने नहीं दिया या शायद सपना के संग की सतह पर इस तरह का कुछ अपने पांव टिका ही नहीं सकता था.

"वो रहा पम्मी." सपना ने एक ओर अंगुली उठाते हुए कहा. और मेरा हाथ छुड़ाकर दौड़ गयी, लोगों की टांगों में से होती हुई.

"अंकल, हम घोड़े पर बैठेंगे." बगल से निकलते घोड़े को देख सपना मचलने लगी. उसके मचलने में जिद नहीं, एक याचना थी. और था एक निचुड़ा-निचुड़ा आग्रह. घोड़ेवाला सपना का मचलना देख ठिठक गया.

"बाबूजी, सिर्फ तीन रुपये."

मैंने सपना की ओर देखा. उसकी आंखों में उम्मीद की एक पतली-सी छाया मंडरा रही थी, इतनी पतली कि जो तिनके की चोट से भी टूट सकती थी.

मेरी ओर से कोई संकेत न मिलते देख घोड़ेवाला बोला, "चलिए, दो रुपये ही सही बाबूजी."

मैंने पम्मी को सपना की गोद से उतारा और सपना को घोड़े पर बिठा दिया. सपना के कंठ से भय और खुशी की हल्की-सी किलकारी निकली. घोड़ेवाला लगाम थामकर सुस्त चाल से चलने लगा. मैं भी सपना की पीठ पर हाथ रखे साथ-साथ चल दिया.

"जाड़ों के दिन भी ऐसे ही बीत जाते हैं बाबूजी."

"और कैसे बीतने चाहिए भई." मैंने कहा.

"क्या बताऊं बाबूजी." उसकी आवाज में टीस थी.

"सुबह से आप पहले आदमी हैं, जिससे दो रुपये कमाई होनेवाली है. घोड़े को खिलाऊं या अपना पेट भरूं, पर बाबूजी घोड़ा भी तो मेरे ही जिस्म का हिस्सा है न! यह चलता है तो मैं भी चलता हूं. यह रुक जाये तो..." उसने अपनी बात बीच में ही छोड़ दी या शायद उसके आगे फैले शून्य को भरने के लिए उसके पास न शब्द थे, न हिम्मत.

मैं खामोश रहा. उसकी व्यथा को कम करने के लिए मेरे पास भी शब्द नहीं थे. वैसे ऐसे में शब्दों की अहमियत ही कितनी रह जाती है! लक्कड़ बाजार का चक्कर लगाकर हम पुनः रिज पर पहुंच गये.

सपना को घोड़े पर से उतारा; जेब से तीन रुपये निकालकर घोड़ेवाले की ओर बढ़ा दिये. नोट थामते हुए उसके हाथ कांप रहे थे. उसके चेहरे पर उभरनेवाला कृतज्ञता जैसा कोई भाव देखकर मैं खुद को बड़ा नहीं करना चाहता था, इसलिए सपना की अंगुली थामकर आगे बढ़ गया.

चर्च की तरफ से भीड़ का एक रेला रिज की तरफ उमड़ रहा था, शायद मैटिनी शो छूटा था.

रिज की बैंचों पर पल भर को कुछ जगहें खाली हुईं और देखते ही देखते कई लोग उनकी ओर झपट पड़े.

तभी सामने से मनोज आता दिखाई दिया. साथ में उसकी पत्नी भी थी. पहले चाहा कि थोड़ा इधर-उधर सरक जाऊं. लेकिन तब तक वे दोनों ठीक सामने पहुंच गये थे, "नमस्कार भाभीजी."

उनके निकट आते ही मैंने हाथ जोड़ दिये.

मनोज ने मेरा हाथ झपटते हुए कहा, "चलो भई, पिक्चर देख आयें. एक टिकट फालतू है हमारे पास. कुक्कू आनेवाला था, पर उसकी तबीयत ठीक नहीं थी, सो घर पर ही छोड़ आये."

"हां-हां चलिए न भाई साहब." मनोज की पत्नी ने भी आग्रह किया, पर उतना ही जितना कि एक फालतू टिकट को जाया न होने देने के लिए किया जा सकता है.

"छुट्टी का दिन भी साला एक आफत होती है. वक्त जैसे चींटी की चाल से चलता है." मनोज बड़बड़ाया.

"चींटी भी तो आफत बन सकती है हाथी के लिए." मैंने कहा.

"मैंने तुमसे जिरह करने को नहीं कहा. जल्दी करो. पिक्चर का पहला 'सीन' निकल गया तो सारा मजा किरकिरा हो जायेगा." मनोज ने उकताकर कहा. मुझे तनिक दुविधा में देख सपना बुझी हुई-सी बोली, "मैं जाती हूं अंकल."

"अबे, ये कौन है." मनोज की उकताहट को हैरानी ने दबोचा.

"कोई भी हो, तुम्हें क्या लेना-देना." उसकी पत्नी झुंझला उठी थी.

"आप लोग जाओ, मैं नहीं जाऊंगा." मैंने दृढ़ता से कहा.

"आपकी मर्जी! खामख्वाह समय बरबाद किया."

मैंने सपना की ओर देखा. उससे नजरें मिलते ही वह थोड़ा सकपकायी. असहजता का एक छींटा उसकी आंखों में डबडबा रहा था.

पम्मी हम दोनों को ताक रहा था. कुछ-कुछ हैरानी और कुछ-कुछ इस आशंका से कि हम दोनों के बीच लगातार गहरी होती आत्मीयता की जिस धूप में वह निर्भर और आश्वस्त उछल-कूद कर रहा था, वह कहीं सूख तो नहीं जायेगी. शायद उसे नहीं पता था कि धूप को जाना ही होता है, लेकिन वह जाकर भी कुछ लोगों के पास रह जाती है.

तभी अचानक सपना के मां-बाप आते दिखाई दिये. पास आते ही जैसे पटाखा छूटा, "सपना, तुम्हें मना किया था, पार्क से बाहर जाने को फिर हर किसी के साथ..."

अपनी बात को जानबूझकर बीच में छोड़ उसके बाप ने मुझे देखा. "इसी तरह तो बच्चों की आदतें खराब होती हैं."

मेरी बात को उसने अपने रूखेपन की आरी से काट दिया था. मैंने देखा, सपना घिसटती हुई चली जा रही है, उसके साथ.

धूप ने अपना जाजम समेटकर सामनेवाले पहाड़ पर बिछा दिया था. पीछे छूट गये थे कुछ धब्बे. रिज से नीचे घाटी में फैले जंगल पर कहीं-कहीं कुछ गुच्छे, पीले-पीले, जैसे उनकी सुनहरी चमक को कोई बड़ी निर्ममता से छीलकर, उन्हें लावारिस छोड़ गया था, बुझते हुए नन्हें-नन्हें अलावों की तरह.

दिन भर बोझ से चरमराते बैंच लगभग सूने हो गये थे. इक्का-दुक्का लोग रह गये थे, उन बुझते धब्बों का पीछा करते, उन्हें पूरी तरह निचोड़ लेने के चालाक इरादे से लबालब भरे.

बैंडघर से उभरते संगीत के महीन स्वर शाम के उस पीले आलोक में पंछियों की तरह फड़फड़ा रहे थे. घर जाने की जल्दी नहीं थी.

अभी रिज का सूनापन मेरे भीतर से गुजरने में हिचकिचा रहा था. रेलिंग से सटकर मैं सामनेवाले पहाड़ की ओर देखने लगा. धूप की एक फांक पहाड़ की चोटी से अभी तक लिपटी हुई थी.

"अंकल!"

एक आवाज. आवाज नहीं, एक पुकार मेरे भीतर कहीं टुनटुनायी. इस बार एक लंबी तान. मुझे एक झटका लगा. पीछे मुड़कर देखा. फव्वारे के पास सपना खड़ी थी, पम्मी को गोद में उठाये. मुझे अपनी ओर देखता पाकर उसने पम्मी को गोद से उतार दिया.

अब उसका नन्हा हाथ ऊपर हवा में हिल रहा था, काले समुद्र में मंद-मंद डोलती डोंगी पर जलती हुई लालटेन की तरह. □

● 'शिखर', पाइन हिल कॉटेज, शिमला–171002 (हिमाचल प्रदेश)

पृष्ठ 57 का शेष...

सारी छुट्टी के बाद मौलाबख्श साथ लेकर वह चबूतरे पर चढ़ गया. सूजे हुए हाथों से जितनी दूर फेंक सकता था, फेंक दिया. मौलाबख्श तालाब के बीच छपाक् की आवाज से गिरा. घबराई हुई मुर्गाबियां इधर-उधर बिखर गयीं. अगले दिन हिंदी टीचर ने पूछा, "मौलाबख्श तालाब में किसने फेंका?" सारी क्लास चुप!

"सच बोलोगे तो कोई सजा नहीं मिलेगी." कोई नहीं बोला.

"पाल, तुम बताओ!"

मैं इस मामले में कच्चा समझा जाता था. दासू के चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं. मैं खड़ा हो गया और कहा, "मुझे नहीं मालूम."

न मालूम कैसे उस दिन सारी क्लास में एका हो गया. अमरजीत से पूछा. उसने भी इनकार कर दिया. तंग आकर सारी क्लास बैंचों पर खड़ी कर दी गयी. पूरा घंटा सभी खड़े रहे, लेकिन किसी ने कुछ नहीं कहा. मौलाबख्श फेंके जाने का कोई खास लाभ हुआ नहीं. अगले दिन फिर नया बेंत हिंदी टीचर के पास था. उस दिन शनिवार था. सोमवार उन्होंने हमारा टेस्ट रख दिया. 'हाथों में खुजली हो रही होगी' हमने आपस में खुसर-फुसर की.

शनिवार आधी छुट्टी सारी थी. घर आकर मैं टेस्ट की तैयारी करने लगा. मुझसे पढ़ा नहीं जा रहा था. बार-बार दासू के सूजे हुए हाथ सामने आते रहे. मुझे टैगोर याद आने लगा. वे उकताकर जूतों में पानी डाल लिया करते थे और चाहने लगते कि उन्हें बुखार हो जाये.

डॉक्टर ने नहाने से मना किया था. दीदी ने मुझे स्पंज कर दिया. मां ने मुझे पानी के साथ कैप्सूल और गोलियां दे दीं.

दीदी मेरे पास बैठ गयी, "तुम्हें डर लगता है क्या?" उन्होंने पूछा.

इतवार शाम तक मुझे लगता रहा कि टेस्ट के लिए मेरी तैयारी बिल्कुल नहीं हो सकी. मैं चाहने लगा कि मुझे बुखार हो जाये और सोमवार स्कूल नहीं जाना पड़े, लेकिन मन ही मन मैं जानता था कि बुखार होना नहीं. चाहने से बुखार नहीं हो जाता, किसी को भी नहीं.

रात होते-होते मैं सर्दी से कांपने लगा. मैंने चादर ले ली और छत पर जाकर लेट गया. एक बेसुधपना मुझे घेरने लगा. मैंने टालने की कोशिश की कि यह मेरा वहम ही होगा, लेकिन अपने आप पर मेरा पूरा नियंत्रण नहीं रहा. अगर बुखार हो गया तो पापा बहुत गुस्सा होंगे. कहेंगे, मेरे मना करने पर भी पूरा दिन धूप में घूमता रहता है. बुखार नहीं होगा तो और क्या होगा. जब मैं बुखार से गुत्थमगुत्था हो रहा था, तभी दीदी मुझे ढूंढती हुई ऊपर आयीं.

"ऊपर ही है." उन्होंने आवाज देकर नीचे मां को आश्वस्त किया.

"उठो, नीचे बुला रहे हैं." मैंने उठना चाहा, पर उठा नहीं गया.

दीदी ने मेरा हाथ पकड़ा और चौंककर बोलीं, "तेरा जिस्म तो बहुत तप रहा है."

मैंने सब कुछ शीला दीदी से कह सुनाया और कहा, "अगर मेरे चाहने से बुखार हुआ है तो मेरे चाहने से टूटता क्यों नहीं. मैं तंग आ गया हूं." थोड़ा रुककर मैंने फिर कहा, "और ये हमारे स्कूल, इनका क्या कुछ नहीं हो सकता? कुछ भी नहीं?"

शीला दीदी थोड़ी देर चुप रहीं. फिर उन्होंने एक लंबी सांस ली और कहा, "मैं भगवान से तुम्हारे लिए प्रार्थना करूंगी."

मुझे लगा कि मैं घंटे भर से किसी बहरे के साथ बकबक कर रहा हूं.

● डब्ल्यू. जी-42 बी, इस्लामगंज, जालंधर (पंजाब)

इसलिए

अशोक गुप्ता

उनको इत्मीनान था कि नेतराम अब बस आने ही वाला होगा. उनकी खासियत ही यह थी कि वह हर कठिन से कठिन हालत में भी इत्मीनान में रहने का कोई न कोई तरीका, कोई न कोई वजह खोज लेते थे और बेफिक्र हो जाते थे. लौट आते थे अपने हल्के-फुल्के मूड में. एकदम इजी हो जाते थे.

इस समय वह तीन थे, इस सरकारी डाक बंगले में, और इजी थे. लेकिन उस समय वह अकेले-अकेले, अलग-अलग थे, एक फर्क-फर्क चेहरेवाले आदमी, जब वह सर्दियों की ढलती सांझ के बाद एक निर्जन, जंगली इलाके से गुजरती डीलक्स बस में यात्रा कर रहे थे.

उनके एक होने की प्रक्रिया तब शुरू हुई, जब बस कुछ एक हिचकोले खाकर लड़खड़ाती रुक गयी थी और एक संक्षिप्त-सी जांच-पड़ताल के बाद, ड्राइवर, कंडक्टर दोनों ने एक संक्षिप्त-सी घोषणा कर दी थी कि अब बस आगे नहीं जायेगी. पहले वह एक से दो हुए और दो से तीन होते-होते तक उन्होंने यह इत्मीनान जुटा लिया कि कैसी भी हालत हो, रात ढंग से बिताने की कोई न कोई व्यवस्था हो ही जायेगी और यह एक शगल भी रहेगा, एक नया अनुभव. उनका इत्मीनान गलत नहीं निकला और एक नेतराम खुद-ब-खुद आकर उनसे टकर गया. नेतराम का असली नाम नेतराम नहीं था, लेकिन इस वक्त नेतराम इसलिए बन गया था, क्योंकि उन तीनों में से, जो नेतराम की खोज थे, मिस्टर मेहरा एक डिस्ट्रिक्ट जज थे और उनके निजी अर्दली का नाम नेतराम होने के कारण उनकी जबान पर नेतराम बहुत कसके चढ़ा हुआ था. यह नेतराम एक लोकल आदमी था, उस इलाके से परिचित तथा वहां की उन हस्तियों के बीच खेला-खाया, जिनका व्यक्तित्व सिर्फ उनका ही नहीं था. सो वह ऐसे लोगों को अच्छी तरह, चेहरे तथा नब्ज दोनों से पहचानता था. उनके रंग-ढंग से वह एक झलक में ही भांप गया कि इन्हें न सिर्फ सरकारी डाक बंगले में आराम से फिट किया जा सकता है, बल्कि इनके साथ अपना भी ऐश से रात काटने का जुगाड़ बैठाया जा सकता है, और अगर कुछ ऊपर से नफा-नफरी भी बन जाये तो कोई अचरज नहीं. सरकारी डाक बंगले तक उसकी पहुंच थी ही, क्योंकि उसका एक मुलाकाती पुराने चौकीदार की बरखास्तगी के बाद वहां फिट हो गया था. इस तरह नेतराम उन तीनों के साथ मिलकर चौथा हो गया और उन्हें डाक बंगले ले आया. जिसके बड़े हाल में अलग-अलग आरामकुर्सियों पर वे तीनों आतिशदान के पास वार्म होते-होते बाइत्मीनान हो रहे थे. एकदम इजी क्योंकि नेतराम खाने-पीने का बंदोबस्त अपने जुम्मे लेकर कूच कर ही चुका था. एक दूसरे से परिचित हो चुके थे वह, और इस आधार पर यह सीमा निर्धारित कर चुके थे कि इन्हें किससे कितना खुलना है. वह अलग-अलग सिरों से, अलग-अलग खुलने वाले लोग थे. सो, वह यह भी तय कर चुके थे कि कौन-सा छोर पहला दौर संभालेगा. सिलसिला शुरू हुआ और ह्विस्की की बोतल खुलकर गिलासों में बंटने लगी.

जिला जज मिस्टर मेहरा, उद्योगपति श्री बैरागीलाल तथा अनुभवी पत्रकार भाई कार्तिकेय मिश्र, तीनों इस डाकबंगलेवाले इलाके से सैकड़ों अलग-अलग मील दूरस्थ तथा अपरिचित, लेकिन नेतराम जिले के आयकर कार्यालय का बाबू, जिसका असली नाम नेतराम नहीं है, डाक बंगले का चौकीदार जो पुराने चौकीदार परमेसरी, जिसे गांव के प्रधान की लड़की भगाने के जुर्म में बरखास्त कर दिया गया था और जो सजा काटकर फिर कभी इधर नहीं आया था और वास्तव में जिस लड़की को डॉक्टर ने भगाया था और चौकीदार परमेसरी के खिलाफ गवाही भी दी थी, की बरखास्तगी के बाद वहां फिट हुआ था, डाक बंगला, अंधेरी रात और दारू का दौर. उन सबको इत्मीनान था कि नेतराम अब बस आने ही वाला होगा. देखिए, आपको यह गफलत मन से निकाल देनी चाहिए कि मैं कहानी सिर्फ इसलिए नहीं सुना सकता, क्योंकि मैं हैसियत से इस डाकबंगले का चौकीदार भर हूं. वैसे भी कहानी बुनने तथा कहानी सुनने का जितना सदाबहार मौसम किसी सरकारी डाक बंगले के चौकीदार को मिल सकता है, उतना किसी को भी नहीं.

आज मेरे डाक बंगले में कुछ बाहरी इलाके के लोग आकर ठहरे हैं. इस जिले से ही नहीं, प्रदेश से भी बाहर के ये हैं शायद. मैं इनकी अर्दली में दरवाजे पर बैठा हूं ताकि जान सकूं कि दूर-दराज की मिट्टी में कैसी कहानियां उगती हैं. ये सब ईसुरदीन का इंतजार नेतराम के नाम से कर रहे हैं.

डिस्ट्रिक्ट जज मिस्टर मेहरा न सिर्फ एक अनुभवी न्यायाधीश थे, बल्कि एक कुशल किस्सा-गो भी थे. जब वह बहुत खुश होते तो बातों का भंडार उनके भीतर से फूट-फूट निकलता था. आज वह बहुत खुश थे, क्योंकि उन्होंने एक लायक आदमी खोज निकाला था, जिसकी बदौलत मुसीबत वाकई उनके इत्मीनान के मुताबिक न सिर्फ टल गयी थी, बल्कि एक खुशनुमा शगल बनकर पेश हुई थी.

रात अपने पूरे सुरूर पर थी. बैरागीलालजी तथा मिश्राजी पूरी तरह मेहरा साहब की गिरफ्त में आ चुके थे और मेहराजी उन दोनों पर इस कदर हावी थे कि कोई गुंजाइश नहीं थी, जो कोई भी तब तक पलक झपका जाता, जब तक मेहरा साहब खुद न ऐलान कर देते कि अब किस्सा खत्म हुआ.

उस दिन जब मैं कचहरी पहुंचा, मुझे वहां का माहौल बहुत उमस भरा लग रहा था, जैसे मेरे भीतर-बाहर एक गहरी बेइंतहा खुश्की भर गयी हो. मैं मन ही मन इस गलत जज्बे को जीतने की कोशिश में था, क्योंकि उसकी वजह मुझे मालूम थी.

दरअसल, बात यूनिवर्सिटी के छात्र नेता दिवाकर पांडे के कत्ल के उस मुकदमे से संबंधित थी, जो मेरी इजलास में चल रहा था. वैसे मुकदमे से हटकर, उस कत्ल का किस्सा भी कम दिलचस्प नहीं है. हुआ यह कि दिवाकर पांडे यूनिवर्सिटी की साइंस फैकेल्टी का छात्र था और रसायन विज्ञान में रिसर्च कर रहा था. जिस रात उसका कत्ल हुआ, वह मंगलदास के होटल 'विश्राम' में ठहरा हुआ था, क्योंकि वह होटल रोडवेज के बस स्टाप के लगभग भीतर बना हुआ था और दिवाकर को बहुत भोर में पहली बस पकड़कर कहीं बाहर जाना था. सुबह होने के देर बाद जब होटल के बैरा चुन्नीलाल ने दिवाकर का कमरा अभी तक बंद देखा तो उसे दिवाकर का प्रोग्राम याद आया. चार-पांच बार खटखटाने के बाद जब उसे और कुछ नहीं सूझा तो उसने सस्ते होटल के बिना पर्दे वाले झिरींदार दरवाजे पर आंख लगा दी और फिर तुरंत बदहवास चीखता हुआ बाहर भागा, जहां भाई मंगलदास अपने काउंटर और कैश बाक्स को अगरबत्ती दिखा रहे थे.

उस दिन तक इस केस की बस मामूली-सी अहमियत थी मेरे भीतर, लेकिन बैरागीलालजी, मामला सिर्फ इतना ही नहीं था, बल्कि बहुत-सी गुम जड़ें भी थीं इसकी, जो मैंने बाद में जानीं. उस दिन सुबह नौ-साढ़े नौ बजे, जब मैं कचहरी के लिए अब बस निकलने ही वाला था कि मेरे पास एक फोन आया, जिसे करनेवाला खुद को मुख्यमंत्री बता रहा था. उस आदमी ने, जो कि मुख्यमंत्री हो भी सकता था, और नहीं भी, मुझे लताड़ते हुए सख्त हिदायत दी थी कि दिवाकर पांडे के कत्ल से यूनिवर्सिटी में, शहर में, और उसके गांव में सब जगह जबरदस्त असंतोष फैल गया है. इसलिए मुझे फोन पर चेतावनी भरे लहजे में समझाया गया कि मैं इस केस में विशेष रुचि लूं, केस से जुड़े सारे मुद्दों को गौर से समझूं और मामला सुलझाकर जल्दी से जल्दी गुनहगार को सजा दिलवाऊं ताकि लोगों के मन में कानून और हिफाजत के प्रति विश्वास लौट सके. इस फोन से मैं थोड़ा अपसेट जरूर हुआ मिश्रा जी, लेकिन मैंने इसे सीरियसली लिया तब, जब मैंने उस दिन के अखबार में पढ़ा कि मुख्यमंत्री ने विश्वविद्यालय में एक डेलीगेशन को तुरंत निष्पक्ष कार्रवाई का आश्वासन दिया है, जिसमें यूनिवर्सिटी के लोगों के साथ-साथ, दिवाकर के भाई तथा उसके गांव के प्रधान भी शामिल थे. इस खबर से मैं इतना तो समझ गया कि फोन करने वाला जरूर ही मुख्यमंत्री रहा होगा. वह सचमुच का न हो, वोडो सी. यम. तो जरूर ही रहा होगा.

उस दिन मैंने कुछ टैक्निकल तिड़ी लगा केस को अगली तारीख दे दी थी और जल्दी घर लौट आया था.

इसके बाद मैंने कुछ दिन केस की जबरदस्त छानबीन की थी और जो सूरत सामने आयी थी, वह खासी पेचीदा थी और दिलचस्प भी.

यूनिवर्सिटी में दिवाकर पांडे बी. एस-सी. में घुसा था और रिसर्च तक आते-आते चार सालों में यूनिवर्सिटी पर छा गया था. बहुत होनहार काबिल तथा विनम्र लड़का था, वह लेकिन यूनिवर्सिटी के मामले में कोई घोटाला, चाहे वह छात्रों से संबंधित हो, प्राध्यापकों से संबंधित या किसी अन्य छोटे से कर्मचारी का, उसे कतई बरदाश्त नहीं था. ऐसी हालत में वह जरूरत, बेजरूरत खुद को विरोध में जरूर उलझा लेता था. साथ ही, हालांकि उसका पहला ध्यान अपनी रिसर्च की तरफ था, उसे इस बात से सख्त परहेज था कि बाहर का कोई आदमी चतुर-सयाना बनकर उनकी मुश्किल बांटने हल करने के बहाने यूनिवर्सिटी के मामलों में आ खड़ा हो, और यही बात बेहद खटकती थी बाहरवालों को. उसके रहते यूनिवर्सिटी

कहानी बुनने और सुनने का जितना सदाबहार मौसम किसी सरकारी डाकबंगले के चौकीदार को मिल सकता है, उतना किसी को भी नहीं . . . क्योंकि वहां आनेवाले लोगों के साथ रोज ही नयी-नयी कहानियां जन्म लेती हैं . . . प्रस्तुत है ऐसे ही एक दिन में जन्मी न्याय, व्यवस्था, राजनीति और आम आदमी के रिश्तों के अंदरूनी समीकरण का बयान करती कथा—

के लड़कों का बाहर के जलसों, जुलूसों में सजना बंद हो गया था. और यूनिवर्सिटी के भीतर-बाहर के लोगों का भाषण-वाषण भी.

यह तो आप समझ ही सकते हैं बैरागीलालजी, कि यूनिवर्सिटी से सूत्र टूट जाना उस इलाके की कांस्टिट्यूएंसी पर क्या असर डालता. हमेशा से उस इलाके से सत्तारूढ़ दल का उम्मीदवार जीतता आया था और इस जीत का सेहरा हमेशा यूनिवर्सिटी के सिर होता था, जबकि इस बार साफ-साफ नजर आने लगा था कि अब अगर दिवाकर पोस्टर लग जाने दे, तो गनीमत है. इससे रूलिंग पार्टी को झटका तो था ही, यूनिवर्सिटी के अंदर भी कम हलचल नहीं थी. इस जिदबाजी से उन लोगों का रास्ता बिल्कुल बंद हो गया था, जो नाम और पैसा कमाने का पूरा हुनर रखते थे. और यूनिवर्सिटी को इसका माकूल प्लेटफार्म बनाकर बरसों से इस-उस डिग्री-डिप्लोमा के बहाने वहां अटके हुए थे.

अब देखिए, हालात क्या बनते हैं. बाहरवाले तो चुप बैठनेवाले थे नहीं, क्योंकि ऐसी छोटी-मोटी अड़चनों से रुकने पर पालिटिक्स चल चुकी. तो साहब, पहला काम तो यह हुआ कि रसायन विज्ञान के हेड जिनकी देख-रेख में दिवाकर रिसर्च कर रहा था, यूनिवर्सिटी की ओर से विदेश भेज दिये गये. इससे दिवाकर न सिर्फ अपने काम में अकेला रह गया, बल्कि उसके जिम्मे कुछ दूसरा काम भी आ गया, जो उसके हेड उसे विभाग के हित में सौंप गये थे.

दिवाकर के हेड वापस आते हैं और दिवाकर उनका बोझ उन्हें वापस सौंपकर संतुष्ट बाहर जाता है. बाहर की हवा बदली हुई है. यूनियन जमकर खड़ी हो चुकी है. उस पर से दिवाकर का जादू उतर गया है, क्योंकि यूनियन का महासचिव है, इंद्रेश बाजपेयी, जिसने रास्ते के झाड़-झंखाड़ को उखाड़ना सीखा है, उसमें उलझकर रुक जाना नहीं.

फील्ड में दुबारा आने पर दिवाकर को स्थिति समझने में थोड़ा समय लगता है. इस बीच दिवाकर की बदकिस्मती कि उसकी इंद्रेश से कुछ ऐसी मुठभेड़ हो जाती है, जिससे इंद्रेश की डायरी में उसका नाम प्रतिद्वंद्वी के स्थान से हटकर शत्रु का-सा हो जाता है. और यह कमाल होता है उस क्षेत्र के सत्तापक्ष के भावी प्रत्याशी पंडित गजानन दीक्षित के जरा से मंत्रोच्चार का, दिवाकर के हेड को विदेश भेजते समय से ही यूनीवर्सिटी के उपकुलपति पर दीक्षितजी का डंडा घूम ही चुका था, सो दिवाकर का विभाग के काम का दबाव बढ़ता चला गया. उधर उसके शोध के अध्याय दर अध्याय पिटते ही चले गये. चौड़ा होता गया इंद्रेश. दीक्षितजी का यूनीवर्सिटी में आना-जाना शुरू हो गया. सो दिवाकर का मानसिक तनाव बढ़ता ही चला गया. चिड़चिड़ा होता गया वह, दिनोंदिन इंद्रेश से उसकी बौखड़बाजी बढ़ती चली गयी और एक दिन यह कांड हो गया.

उस दिन यूनीवर्सिटी के हिंदी विभाग में एक कवि गोष्ठी की व्यवस्था थी और उसके मुख्य अतिथि थे पंडित गजानन दीक्षित. उधर यूनीवर्सिटी के ही कला भवन में दिवाकर ने एक विकलांग छात्र की पेंटिंग्स की एक प्रदर्शनी लगवायी थी. कवि गोष्ठी समाप्त हुई और घूमते-टहलते पंडितजी अपने युवा साथियों के साथ जिसमें मुख्यमंत्री का भांजा विक्रम भी था, अनायास प्रदर्शनी के पंडाल में आ पहुंचे. दिवाकर इस स्थिति के लिए तैयार नहीं था, सो एक तनाव-सा घिर आया उस पर. अचानक एक हंगामा उठ खड़ा हुआ. शोर सुनकर

दिवाकर हुजूम के पास आता है. दीक्षित उसका शालीनता से स्वागत करते हैं और मुख्यमंत्री का भांजा, यानी विक्रम आगे बढ़कर एक सवाल दाग देता है, "क्यों दिवाकरजी, ये कोक शास्त्र दिखाइएगा देश के युवकों को . . . ?"

अचानक उबल पड़ता है दिवाकर. चीखने लगता है. दीक्षितजी दुख का द्वंद्व-सुख लेते रहते हैं और पता नहीं क्या लहर आती है दिवाकर में कि वह दीक्षितजी समेत सबको धकियाकर पंडाल से गेट आउट कर देता है. विक्रम भी एक सीमा के बाद अपना धीरज खो देता है. कुछ ऐसे कि जैसे चाणक्य ने अपनी शिखा खोल दी हो.

हजम यह बात दीक्षित को भी नहीं होती, लेकिन वह गरम-गरम नहीं खाते. यह उनका सिद्धांत है. अगले दिन सुबह ही इंद्रेश के कमरे में एक बैठक होती है, जिसमें दीक्षितजी के अतिरिक्त सारी चांडाल मय विक्रम के शामिल होती है. सारी दोपहर दिवाकर अपनी प्रयोगशाला में व्यस्त रहता है, क्योंकि अगले दिन सुबह ही उसे बस पकड़कर बाहर जाना है, और सुविधा के नाते रात उसे मंगलदास के होटल 'विश्राम' में बितानी है. शाम को विक्रम और इंद्रेश दिवाकर के हॉस्टल के इर्द-गिर्द तथा रात को मंगलदास के होटल के पास नजर आते हैं. मंगलदास जो रात को ग्यारह बजे से पहले कभी होटल से बाहर नहीं हिलते, उस दिन आठ बजे ही उठ खड़े होते हैं. दिवाकर के आने पर उसे कमरा दिखाकर मुंशी भी दस बजे के पहले ही फूट लेता है. सवा दस बजे तक होटल बियाबान हो जाता है. एकदम बे-आवाज. बस, करीब एक बजे रात को एक स्कूटर आकर रुकता है होटल के सामने, जो बस स्टैंड के सामने चायवाले की सुपुर्दगी में छोड़ दिया जाता है और दो आकृतियां होटल में तेजी से घुस जाती हैं और निकलती हैं फिर तकरीबन आधे घंटे बाद; और बदहवास-सी आनन-फानन में स्कूटर उठाकर अंधेरे में गुम हो जाती हैं. अपनी पूरी तहकीकात के बाद मैं यह पाता हूं कि दिवाकर का कत्ल इंद्रेश और विक्रम ने मिलकर किया है और संतुष्ट होता हूं कि मैं चीफ मिनिस्टर को मुंह दिखाने के काबिल हो गया हूं. अगले ही दिन मैं खुफिया तौर पर दिवाकर के वकील को एक खास दोस्त द्वारा सारा मामला समझवाता हूं और खोल देता हूं वह मंत्र-गांठें, जिनकी वजह से पिछले दो महीने से दिवाकर के कत्ल का मुकद्दमा मेरी अदालत में इंच भर भी खिसक नहीं पाया था.

दो पेशियों में मामला कुछ रफ्तार पर आने को होता है कि अचानक एक इतवार को सी.एम. का फोन मेरी कोठी पर बुलाहट के साथ. मुझे इस फोन से कोई परेशानी नहीं होती. बैरागीलालजी, और मजा देखिए कि जब मैं उनके पास से वापस लौट रहा होता हूं तो ऐसे जैसे सरे बाजार नंगा घुमाया गया हो मुझे. मिश्राजी, सी.एम. ने मुझे इतनी झाड़ लगायी कि बस कुछ पूछिए मत.

'कतल विक्रम ने किया है, यह बात तुम्हें दो महीने की चूतड़ घिसाई के बाद मालूम हुई तो फिर क्या तुम पहले अंधेरे में बिल्ली पकड़ न्याय करने जा रहे थे? और अब तुम दो महीने की तपस्या में इंदर भगवान का अमरित पीकर आये हो, जो मेरे सामने मेरे भांजे को नपवाने की बहादुरी बखान रहे हो. अरे . . . नंदन, तुम पर क्या कानून और व्यवस्था की रच्छा की जिम्मेदारी इसीलिए सौंपी गयी है कि तुम, साले को, सरकार की तस्वीर पर ही कालिख पोत दो? हैं?

मुख्यमंत्री का भांजा खूनी है तो मुख्यमंत्री क्या भेड़िया? अरे मूरख परसाद, अगर मुख्यमंत्री भेड़िया है तो वह तुम्हें भी तो मय खानदान एक झपट्टे में साफ कर सकता है. क्यों, है की नहीं?

मेहराजी, मुख्यमंत्री सरकार होता है सरकार, उसके चेहरे पर प्रधानमंत्री की रोशनी चमकती है और आप उसी मुंह को काला करना चाहते हो. कतल विक्रम ने किया है. आप कतल के दो महीने बाद यह खबर लाये हैं, जबकि शहर का बच्चा-बच्चा यह बात उसी दिन सुबह से जानता है. जासूसकला का तो यह हाल है, और बनेंगे न्यायपीठ. साले मिट्टी के लोंदे.'

मुख्यमंत्रीजी मुझे लताड़ते रहे और मैं राम-राम करता सुनता रहा कि हैसियत का पानी तो उतर गया पूरे का पूरा.

एक मिनट चुप रहकर फिर बोले मंत्रीजी, 'अरे अब अइसे गदहा की तरह सिर झुकाकर बैठने से कुछ नहीं होगा मेहराजी. बस जाइए और अपना दायित्व समझिए. न्याय व्यवस्था से सरकार की छवि निखरनी चाहिए, इसीलिए काबिल-काबिल लोग लाकर बैठाती है सरकार ताकि कानून और व्यवस्था में जनता का विश्वास बना रहे, सरकार में विश्वास बना रहे. उठिए और ठीक कातिल पकड़कर उसे सजा दिलवाइए. युनीवर्सिटी का पूरा बरस हंगामे में बीता जा रहा है. छात्रों के भविष्य की भी कुछ चिंता है आपको कि नहीं? चुनाव ऊपर से सिर पर है. जाइए और अपना काम संभालिए वरना . . .'

मैं सी.एम. की कोठी से मुंह लटकाये वापस लौटा था और सिर थामकर बैठ गया था. मुझे अपने चारों ओर सारे रास्ते बंद नजर आ रहे थे और साथ के लोगों में एक भी चेहरा ऐसा नहीं नजर आ रहा था, जिससे मिल-बांटकर कुछ सोचा-समझा जा सके. ऐसे में मेरे चपरासी नेतराम ने आकर मुझे छेड़ा था. 'क्या बात है साहेब? आज बहुत परेशान . . .' और अपनी बात पूरी करते न करते वह मेरे कमरे में मेरी आराम कुर्सी के पास, जिस पर मैं ढहा पड़ा था, नीचे कालीन पर बैठ गया. उसने पल भर निहायत मुलायम नजर से मेरे पिटे हुए-से चेहरे को देखा और अपने पहले ही जुमले से मुझे हैरत में डाल दिया.

'इसमें बहुत घबराने की बात नहीं है साहेब. सी.एम. एक मुजरिम ही तो लेंगे न, कोई जान तो लेंगे नहीं. आप तो बेकार ही जूझे जा रहे हैं भार तमाम . . .'

मिश्राजी, मैं हैरत में तो खैर आ ही गया, बड़ी हैरानी की बात यह हुई कि वह मेरा अचरज भी भांप गया और हंसकर बोला, 'साहेब, इसमें हैरानी की क्या बात है? थोड़ी इनफारमेशन चैनल हमरे पास भी रखनी पड़ती है. बारह बरस से साहेब लोगों की अर्दली कर रहा हूं. यही सब तो देखा है. अरे, कहीं लोग बदलने से दस्तूर-चलन बदलता है? और इसी से तजुरबा बढ़ता है साहेब. आपके लिए तो हम तब ही से सोच रहे थे, जब से आप और आपके दोस्त युनीवर्सिटी का दनादन चक्कर लगा रहे थे. हमें तभी लग गया था कि आपका सनीचर अब बिगड़ रहा है.'

नेतराम बोलता जा रहा था और मुझे लग रहा था कि मुख्य मंत्री के बाद अब मुख्य मंत्री का बाप मेरी कक्षा ले रहा है. एक दही-सा जम गया था मेरे मुंह में. फिर भी नेतराम के आखिरी वाक्य ने एक राहत भरी सांस दी थी मुझे.

'साहेब, ज्यादा हलकान मत होइए. सांप भी मरेगा और लाठी भी नहीं टूटेगी. हमें जरा पहले मालूम होता कि आप रपट जाइएगा तो हम पहले ही आगे बढ़कर कंधा लगा देते. मुखमंत्री और कानून इन दोनों जनावरों को नाथना हम बहुत सीखे हैं साहेब. आप भूल जाइए इसे थोड़ी देर और मौज करिए.'

बैरागीलाल जी, आप विश्वास नहीं कीजिएगा, यह नेतराम तो जबरदस्त आदमी निकला. एक तो सी.एम. ने मुझे बहुत सही समय पर लगाम खींचकर जगाया था जो तब तक बस स्टैंड के टी स्टॉलवाले तथा पहरेदार की गवाहियां शुरू नहीं हुई थीं, दूसरे मुझे इस बात का फायदा मिल गया कि होटल का मालिक होने के नाते मुकदमा मंगलदास के खिलाफ चल रहा था और मंगलदास उस रात सौ से भी ज्यादा लोगों की गवाही में मुकामे-कत्ल से बीसियों मील दूर अखंड कीर्तन में रात भर मौजूद पाया गया था. नेतराम ने तिकड़म शुरू की तो मेरा हौसला कुछ पक्का हुआ और इधर पाया कि मुकदमे का रुख मोड़ने में मुश्किल कुछ थी ही नहीं जैसे. और इस तरह यह रोशनी में लाना और साबित कर पाना आसान हो गया कि पैसे के लालच में आदमी का जमीर कितना गिर जा सकता है, यह कहा नहीं जा सकता. जैसे, महज इस शक पर कि दिवाकर के ब्रीफकेस में कोई तगड़ी रकम होगी,

होटल के बैरा चुन्नीलाल ने मौके का फायदा उठाया और दिवाकर का ब्रीफकेस ले भागने के चक्कर में उससे मुठभेड़ कर बैठा. जिसका नतीजा यह हुआ कि दिवाकर चुन्नीलाल के हाथों मारा गया. चुन्नीलाल ने अपना मफलर जकड़ दिया दिवाकर के गले के चारों ओर और कसता गया तब तक, जब तक वह वहीं गिरकर ढेर नहीं हो गया. होटल के कमरे में दिवाकर की लाश गले में जकड़े मफलर समेत पायी गयी थी.

देखिए मिश्राजी, आपकी पत्रकार नजर ने ठीक ही पकड़ा कि इस मामले में बहुत से सवाल उठ सकते हैं लेकिन साहब, जब सिविल सर्जन, इंटेलीजेंस, यहां तक कि पुलिस तक भी हमारे साथ थी और सबको मामले की सारी असलियत मालूम थी, तब किसी अड़ंगे की गुंजाइश कहां उठती है. और अगर होती भी तो गजानन दीक्षित मौजूद थे, जिनकी तूती दूर तक बज रही थी उस समय.

मामला चला और अपनी रफ्तार भर चलकर मंजिल तक पहुंच गया. इस तरह चुन्नीलाल को आगे खड़ा करके सी.एम. को रिझाया गया. अरे, फिर तो मत पूछिए साहब. मंगलदास की ओर से गजानन दीक्षित की रकम पर एक तगड़ी पार्टी दी गयी सबको, जिसमें सी.एम. साहब मय इसके खास लोगों के खुद उपस्थित थे. इससे सरकार का अपने आला अफसरों पर भरोसा तो बढ़ा ही था, जनता का भी कानून और न्याय व्यवस्था पर विश्वास जमा था.

मेहरा साहब किस्सा खत्म करके भरपूर गद्गद थे.

जी हां, मैं ही उस सरकारी डाक बंगले का चौकीदार हूं, जिसमें उस रात डिस्ट्रिक्ट जज सहित तीन आदमियों की हत्या हुई थी और यह भी, कि मैं ही उस रात वहां ड्यूटी पर तैनात था.

उस रात डाक बंगले पर डिस्ट्रिक्ट जज मेहरा, मिल मालिक बैरागीलाल तथा अखबारवाले कार्तिकेय मिश्र ठहरे हुए थे और दारू उतारने के बाद देर रात तक बतियाते रहे थे. उनके साथ मेरा एक पहचानी ईसुरदीन भी था, जो नेतराम के नाम से उनका खिदमतगार बनकर आया था और वहीं हाल में सोया हुआ था. मैं साहब लोगों की अर्दली में दरवाजे पर कान लगाये इस लालच में उनका किस्सा सुन रहा था कि जान पाऊं, झरने-झरने के पानी में क्या फरक होता है. किस्सा जज साहब सुना रहे थे. और ज्यों-ज्यों किस्सा गहराता जा रहा था, मेरे जिस्म पर कपड़े की तरह लिपटी कहानियां शीशा होती जा रही थीं और मेरी कहानियों के केंद्र का आदमी पारदर्शी सतह से साफ नजर आने लगा था. मैंने देखा कि मेरी कहानी के केंद्र में स्थापित इस डाक बंगले का पुराना चौकीदार भी जज साहब का किस्सा सुनकर उतने ही तनाव में मुट्ठियां भींचता, छटपटाता नजर आ रहा था, जितना मैं. जैसे ही जज साहब का किस्सा खत्म हुआ, मेरे भीतर कांच घर में कैद इस बंगले के पुराने चौकीदार ने लपककर मेरा कालर पकड़ लिया और चीखने लगा कि या तो मैं उसे अपनी कहानी के केंद्र से आजाद कर दूं और उसके लिए पराया हो जाऊं, या मैं खुद ही मार डालूं उस शख्स को, जो अपने किस्सों में दोहरा-दोहराकर उसकी मौत का सुख जी रहा है.

फिर देर नहीं की मैंने, और एक बे-इंतेहा तेजी से टिका दी बंदूक की नली डिस्ट्रिक्ट जज मिस्टर मेहरा के सीने पर. मैं दहाड़ा, "इस डाक बंगले के पुराने चौकीदार परमेश्वरी सहाय के कातिल, तेरा हिसाब साफ." और मैंने बंदूक से एक गोली कम कर दी.

इस अचानक हमले से मिश्रा तथा बैरागीलाल दोनों भागकर एक कमरे में दुबक गये. ईसुरदीन भी हड़बड़ाकर उठ बैठा था और परमेश्वरी सहाय. यानी इस डाक बंगले के पुराने चौकीदार, जिसके खिलाफ एक छोटी-सी झूठी गवाही उसने भी दी थी, के नाम से न सिर्फ उसकी नींद उड़ गयी थी, बल्कि वह भीतर से कंपकंपा भी गया था.

मैं मेहरा को मारकर आराम से अपनी बंदूक लेकर आया और फिर दरवाजे पर बैठ गया. मिनट भर में मैंने देखा कि ईसुरदीन भी

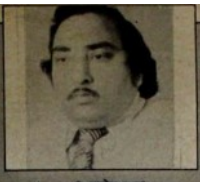

● अशोक गुप्ता

आकर खड़ा हो गया मेरे पास, एक सवाल के साथ, 'क्या बंदूक में और गोलियां नहीं रहीं?'

मैंने जवाब में अपनी बंदूक उसे थमा दी थी, जिसे लेकर वह तेजी से भीतर झपटा और मैंने उधर से दो और गोलियों की आवाज सुनी, जिधर मिश्रा तथा बैरागीलाल छिपे हुए थे. और ईसुरदीन ने आकर मेरी बंदूक वापस कर दी.

"जरूरी था यह भी, क्योंकि इनकी पूरी सोहबत के बगैर कोई जज अकेला परमेश्वरी सहाय को नहीं मार सकता."

मुझे खुशी थी कि ईसुरदीन ने एक जानदार बात कही थी.

मैंने पलभर स्थिर होने के बाद ईसुरदीन से पूछा कि अब क्या किया जाना चाहिए. भागना चाहिए. इसलिए नहीं कि हम बुजदिलों की तरह छिपकर खुद को बचाते फिरें, बल्कि इसलिए कि अपनी तथा अपनी बंदूक की हिफाजत कर सकें. कम कर सकें एक-एक करके बंदूक की गोलियां. पा सकें और गोलियां, भंडार जुटा सकें ताकि वह लोग वाकया-दर-वाकया खून उगलते जायें जो अपने किस्सों में दोहरा-दोहराकर दिवाकर पांडे, परमेश्वरी सहाय या चुन्नीलाल की मौत का सुख जी रहे हैं, फिर भी इस दम पर सफेदपोश बने बैठे हैं.

मैं उस दिन से डाक बंगले से फरार हूं. भरी बंदूक मेरे पास है और मैं स्वीकार करता हूं कि डिस्ट्रिक्ट जज मि. मेहरा, उद्योगपति श्री बैरागीलाल तथा पत्रकार प्रवर कार्तिकेय मिश्र की हत्या मैंने की है. जी हां, तीनों की हत्या मैंने की है, क्योंकि जब ईसुरदीन यानी कि उस दिन का नेतराम मिश्रा तथा बैरागीलाल को मार रहा था, वह मेरी कहानियों के केंद्र में था. कुछ और भी खून किये हैं मैंने उसके बाद, और अभी सिलसिला खत्म करने का मेरा कोई इरादा नहीं है.

भई ऐसा है कि अगर सरकार, राजनीति, न्याय व्यवस्था, कानून, पुलिस व्यवस्था, यहां तक कि प्रेस, बाजार, खेत और स्कूल तक एक रस्सी से नधे घोड़े भर हैं, जिनकी लगाम एक अंधे ताकतवर दैत्य के हाथ में है तो न्याय या सच-झूठ का फर्क करने जाया ही कहां जा सकता है. बस, एक ही चारा बचता है कि हाथ में हाथ थामे लोगों का घेरा जो विश्वविद्यालय के कुलपति, सिविल सर्जन से नेतराम तक सबसे मिलकर दिवाकर पांडे या परमेश्वरी सहाय के चारों ओर बना है और उन्हें कसता जा रहा है, उसे एक तेज धमाके से छितरा दिया जाये, कुछ ऐसे कि ये सारे के सारे भी आतंकित होकर डर तथा दहशत में खुद को उतना ही अकेला तथा बेबस महसूस करें, जितना चुन्नीलाल, जैसे हम या आप कभी भी करते हैं, कर सकते हैं.

जी, खून करने में डर कैसा? आदमी की जान तो वैसे भी पानी का बुलबुला समझिए, चाहे वह मेरी हो या सी.एम. की, लेकिन आदमियत तो पानी का बुलबुला नहीं होती न. उसका वजूद तो आदमी के बाद भी होता है. न्याय पानी का बुलबुला नहीं होता. लोकतंत्र पानी का बुलबुला नहीं होता. शिक्षा पानी का बुलबुला नहीं होती, नैतिकता और राष्ट्रीयता पानी का बुलबुला नहीं होती. इसलिए जब न्याय, लोकतंत्र, शिक्षा, नैतिकता, राष्ट्रीयता और आदमियत की रक्षा किसी और तरह असंभव हो तो आदमी का खून बहाना जरूरी हो जाता है. □

● अशोक गुप्ता, 314/21, डी.एल.एफ. कालोनी, रोहतक-124001

जूतों का आत्मसमर्पण

राजकुमार गौतम

सौ रुपये के जूते और सरकारी दफ्तर में काम करने वाले बाबू के बीच चल रहे युद्ध का आंखों देखा हाल सुपरिचित कथाकार और 'ऐसा सत्यव्रत ने नहीं चाहा था' जैसे उपन्यास के लेखक की कलम से—

उस दिन की नायक-समस्या को मैं सुबह जागते ही पहचान गया था. उस दिन इस समस्या को, एक तरह से, समाप्त हो जाना था. मैं इस अंदाज में कभी नहीं सोच पाया कि उस दिन या किसी और दिन बहुत-सी समस्याओं के बीच मात्र कोई एक ही किस तरह हीरो बन जाती है और क्योंकर मैं लगभग अंधा होकर उसके पीछे दीवाना हो उठता हूं. शायद अपवाद स्वरूप ही कभी ऐसा होता हो कि मैं बाजार गया होऊं तौलिया खरीदने और खरीद लाया होऊं लुंगी, चादर या फल-सब्जी यानी सब कुछ पहले से मेरे भीतर तय रहता है, लेकिन दूसरा अनभिज्ञ रहा है इसीलिए पत्नी मुझे अक्सर टोकती भी है, "तुम्हारा कुछ पता नहीं चलता. . . कब क्या कर बैठोगे." समस्या के मेरे होमवर्क का उसे कुछ पता नहीं होता, इसीलिए ऐसे कहती है.

दरअसल जब से अंतरिम महंगाई-भत्ते की किस्त देने की घोषणा हुई थी, करीब एक सप्ताह पहले, तभी से मुझे बतर्ज पत्नी, लगने लगा था कि मैं अब कुछ न कुछ कर बैठूंगा, अपने इस मजबूत मनोबल के कारण मैं किसी सख्त मानसिक तनाव में भी नहीं घिरा था. मन में पूरा विश्वास था कि जो सोच लिया है, वही करूंगा. यद्यपि ऐसा भी हुआ था कि कुछ दूसरी समस्याओं ने अपने नंगे और चिकने कंधे दिखा-दिखाकर मुझे आकर्षित और कमजोर करने की कोशिश की थी, लेकिन मेरी नायक समस्या इन सबसे जवान, आकर्षक, सेक्सी और विजेता निकली.

"इस भुगतान के माध्यम से, हे मेरी प्रिय वस्तु, मैं तुम्हें बाजार से उठाकर घर ले जा रहा हूं." मैंने जैसे मन ही मन खरीदे गये जूतों से कहा, "अब तुम मेरा सपना पूरा करोगे. वह सपना, जो कई महीनों से हाथ-पैर कटवाये हुए खूंटी पर टंगा था. मेरे पंजों की तरफ सर्दी कैसे टूट-टूट पड़ा करती थी. अब मैं मुक्त हुआ उस यातना और चप्पल-धारण से. अब मैं तुम्हें पहनूंगा और अपने पांव, स्वास्थ्य, सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्मसंतोष—इन सबको पाऊंगा. अब तुम बाजार को विदा कहकर मेरे साथ, मेरे घर रहो. अब यदि तुमने बाजार, मोची या कबाड़ी की तरह आंखें उठाकर देखा तो मुझसे बुरा कोई न होगा. तुम्हारे ऐसा करने पर मैं समझूंगा कि केंद्र सरकार ने अपना कर्मचारी होने के नाते जो पैसे मुझे दिये थे, तुमने उन्हें झूठ ठहराने की कोशिश की है. मुझे सहायता देना मेरे जूतो, दीवानगी और पागलपन की हद तक मदद देना मुझे. तुम्हारी शीघ्र विदाई को मैं सह नहीं पाऊंगा. . . तुम सुन रहे हो ना?" पैकेट हिला. फिर खुला भी. जूते बाहर झांके और बाकायदा हंस पड़े, 'ही. . . ही. . . ही!' और मैंने देखा, जूतों के चमकदार दांत थे.

"ओफ्फो. . . ले आये जूते! सारे पैसे इन्हीं में फूंक डाले!" पत्नी जूतों को देखते ही चीख पड़ी थी, "अब तुम तनख्वाह मिलने तक रोटी की जगह. . . ये जूते ही चबाना, समझे!"

"बेवकूफ हो गयी हो क्या? तुम्हें पता है. . . सर्दी, चप्पल, पांव, ठंडक, कंपकंपी, बिवाई, धूल-मैल. . . और रात में जब तक पांव गर्म नहीं होते, नींद भी तो नहीं आती. देह को जीवित रखने के लिए मनुष्य के पास कम से कम एक जोड़ी जूता तो होना ही चाहिए. यह बात तो शास्त्रों में भी लिखी होगी. . . देख लेना." इतने संदर्भों को एक साथ पाकर पत्नी जूता-खरीद के महत्त्व के प्रति आश्वस्त हो गयी.

फिर पत्नी ने भी जूतों से लाड़ जताया. जूतों के मुलायम बदन पर अपनी खुरदुरी उंगलियां फेरी. रंग, डिजाइन, हील और मजबूत सिलाई की तारीफ की. मुझे पता है कि घना प्यार जताने के लिए वह लगभग यही हथकंडा इस्तेमाल करती है. मेरे और मेरे जूतों के लिए भी उसे ऐसा ही करते देख मैं खुश हुआ. बातों ही बातों में पत्नी ने यह भी बताया कि एक बार उसके पिताजी आगरा से कितने बढ़िया जूते लेकर आये थे, रामगंगा में जब बाढ़ आयी थी तो पानी से घर की सारी चीजें सिकुड़ गयी थीं, लोहे के संदूक तक भी, लेकिन वे जूते ज्यों के त्यों बने रहे थे.

हम दोनों फिर और खुश हुए. आपस में हमने प्यार भी किया. किसी भी खुशी के सारांश या उपसंहार को हम इसी रूप में भोगा करते हैं. इसे आप हमारी खुशी का प्रमाणपत्र समझ सकते हैं, परिणाम या पुरस्कार. . . या कुछ भी.

जूतों ने अगले दिन भी हमें काफी चकमक किया हुआ था. दफ्तर जाने के लिए घड़ी की जो चाल प्रायः हुआ करती थी, अगली सुबह वह अपेक्षाकृत सुस्त थी. मैंने बिस्तर छोड़ने से पहले एक बार उन जूतों को देखा, फिर नहाया-धोया. नहाकर (गलती से) सबसे पहले जूते ही पहन लिये. यह देखकर पत्नी हंसी, लेकिन फिर जल्दी ही जूतों की तारीफ में धंस गयी. इस तारीफ की लौ इतनी तेज थी कि हमारी जिंदगी में रसोई में सब्जी जल गयी. इससे सिद्ध होता है कि जूतों का महत्त्व क्रमशः विराटतर होता जा रहा था. कई दिन तक लगातार ऐसा ही हुआ.

बीच-बीच में जूते भी अपना चमत्कार दिखलाते. उनके दांत थे, यह तो मैं पहले ही जान चुका था, लेकिन फिर देखा कि उनके शरीर में तो आदमी जैसा सब कुछ है. वे हंसते ही नहीं, बोलते भी थे. उन्होंने सविस्तार बताया कि कैसे-कैसे वे बने, संवरे, बिके और मेरे पास तक पहुंचे हैं. जूतों ने मुझे यह भी साफ-साफ बताया कि उनकी कीमत में मैं ठगा गया हूं. उनकी असल कीमत तो दी गयी कीमत से आधी भी नहीं है. मैंने उन्हें टोकना चाहा था. वे बोले कि तुम मार्किट की दुनिया को जानते नहीं हो. जैसे-तैसे करके, अंतरिम राहत का एरियर मिलने पर तुम हमें खरीद लाये, इसी में शुक्र जानो. . . मुझे लगा कि जूते मेरा मजाक उड़ाना चाह रहे हैं. एरियर के सौ रुपये मिले थे. बाजार की कई दुकानों में से मैंने वह एक छांटी थी, जिसके बाहर पड़े पायदान पर 'ईमानदारी' लिखा था. उस पायदान पर पैर पोंछकर मैं अंदर गया था. दुकानदार ने इस जोड़े की कीमत एक सौ पच्चीस बतायी थी, जिसे मैंने सौ तक पटा लिया था. सौदा पटाने की मेरी कला को ये जूते चैलेंज कर रहे थे! . . . मैंने सोचा कि इन्हें चूंकि अब सड़क, कीच, पानी, छिलके, कूड़ा, बस, कील, कांच, सड़े पत्तों और सूखी हड्डियों पर से जो गुजरना पड़ेगा, इसी वजह से मेरे प्रति कटुता और वैमनस्य की शब्दावली इन जूतों के दिमाग में घर कर गयी है.

जूते पहनकर जब मैं दफ्तर के लिए निकलता तो मुझे लगता कि बाहरी समाज और व्यवस्था से ही नहीं, अपने जूतों से भी संघर्ष अनिवार्य है. जूते व्यंग्य करते, चिकोटी काटते. अचानक जोरों से भी, और कई बार अपने भीतर इतनी घुटन भी इकट्ठा कर लेते कि मेरे पंजे चीं-चीं बोलकर छटपटा उठते. जूतों का यह विरोध धीरे-धीरे स्पष्टतः कटखनेपन में तब्दील हो चला था. मैंने अब तक बहुत बार, लगभग इसी डिजाइन के जूते पहने थे, लेकिन उनमें से ऐसा बदतमीज कोई भी नहीं निकला था. मेरे दोनों पैरों की छोटी उंगलियों के पास और एड़ियों की पीठ पर छोटे-छोटे घाव भी इन जूतों ने जन दिये थे, जिन्हें वे जब-जब, इच्छानुसार रुला दिया करते थे. यही नहीं, उनके दांत भी बड़े हो चले थे और मुझे दुखी, लंगड़ाता, कराहता और सिसकता देखकर वे ठठ्-ठठ् करके ठहाके मारते थे.

एक दिन उन्होंने मुझसे साफ कह ही दिया, "तुम क्लर्क हो ना. . . छोटे दिमाग, छोटी तनख्वाह और कतई अवसरवादी लोग. . . इसीलिए हम पूरे तन-मन से तुम्हारे काम नहीं आ सकते. तुम्हारे पैरों को यह तक तमीज नहीं है कि सुसभ्य जूतों के भीतर कैसे रहें. . . हमारी लड़ाई तुमसे नहीं, तुम्हारे पैरों की अनाप-शनाप बनावट से है."

अपनी कमजोरी पकड़े जाने पर मैं मन ही मन कांप उठा. मुझे अपना नंगे-पांव घूमता बचपन याद आ गया. जब छठी कक्षा में प्रवेश लिया, तभी पहली बार पिताजी ने मुझे जूते पहनाये थे, वे भी रबड़ के. यह कहकर कि अब बरसात है, उन जूतों ने कुछ दिनों काटा. असहनीय हो जाने पर मैं जूते पहनना छोड़ देता. घावों के सूखने पर मैं जूते फिर पहनना शुरू कर देता. हालांकि अब तक मेरे पंजों का आकार अनाप-शनाप बेली गयी रोटी की तरह ऐंडा-बेंडा हो चुका था, फिर भी इस आकार को मैं जूतों में छिपाकर रखने में सफल हो ही गया था. रबड़ के जूते पिताजी ने यह कहकर पहनाये थे कि यह बरसात का मौसम है, यही ठीक रहेंगे. बरसात में धुलकर जूते चमक उठते तो मुझे बहुत अच्छे लगते भी. समय के साथ-साथ मौसम बदला. सर्दियां आ गयीं, लेकिन जूते नहीं बदले, जूते तब ही बदले, जब स्कूल से यह लिखकर आया कि बच्चे को स्कूल की पूरी ड्रेस में भेजो, नहीं तो उसे वापस भेज दिया जायेगा. ड्रेस में कपड़े के सफेद जूते थे.

मुझे अभी भी याद है कि कपड़े के जूते भी ठीक वहीं से फटा करते थे, जहां से ये जूते काटते हैं. मैंने सोच लिया कि यह जोड़ा लातों का भूत है, बातों से नहीं मानेगा. जूतों को मैंने दो दिन तक साबुन के पानी में भिगोये रखा. पता लगा, उन्होंने तब भी अपनी कटुता नहीं जाने दी. नियमित पॉलिश चुपड़कर बहुत देर तक धूप में रखा. . . तले पर चिपका हुआ पत्तावा भी निकालकर बाहर फेंक दिया, लेकिन जूतों ने हार नहीं मानी. अंतिम गारंटी के रूप में एक जूता मरम्मत की दुकान पर, उन्हें उनसे बड़े फर्मे पर दो-तीन दिन कसवाये रखा. . . मगर जूतों की तंग-दिली पर कोई असर नहीं.

"और कोई तरीका बचा हो तो उसे भी आजमा लो." एक दिन जूतों ने कहा. "मुझे तुम्हारे साथ रहने पर दुख और शर्मिंदगी है." मैंने कहा. "और हमें तुम पर सिर्फ तरस आता है." जूतों ने फिर डंक मार दिया. इससे अधिक अपमान मेरा और कोई हो नहीं सकता था. मैंने महसूस किया कि मेरी जिंदगी के महाभारत की ठीक यही प्लेसिंग है. मुझे इन जूतों से ही लड़ना और विजयी होना है, और इसी के लिए मेरा यह जीवन बना है. इन जूतों ने आखिर मुझे समझ क्या रखा है? कुत्ते! पश्चिमी संस्कृति की देन. . .! पशुवध को बढ़ावा देनेवाले राक्षस! और गरीबों के सिर पर पड़नेवाला एक अश्लील हथियार! अपनी संस्कृति में अच्छी-खासी खड़ाऊं थी. उन्हीं में इतनी शक्ति थी कि चौदह वर्षों तक राजसत्ता संभाले रहीं. और बीसवीं बूढ़ी सदी का यह सौ रुपल्ली का

● राजकुमार गौतम

जूता मुझे ललकारता है. . . मेरी परीक्षा लेना चाहता है? हुंह. . .

संघर्ष, धैर्य, तप और अटूट साधना को मैं फिर से धरती पर अवतरित करूंगा. इस जूते को मैं ऐसी फटकार बताऊंगा और इतना घसीटूंगा कि यह भी याद करे. पांव के जूते दूसरे के सिर के लिए ही होते हैं. इन्हें देखो, ये तो मानो अपने ही सिर पर. . .

मैंने वही किया, जो मैं करना चाहता था या जो मैं कर सकता था. मैं इन्हीं जूतों को लगातार पहनता रहा. जूते पूर्ववत काटते रहे. मेरे जख्म ताजा और बासी होते रहे. दिन गुजरते रहे. हवाएं चलती रहीं. महंगाई बढ़ती रही. देश की संसद बैठती-उठती रही. मौसम आते-जाते रहे. तीसरी दुनिया, तीसरा विश्वयुद्ध, तीसरा नेत्र और तीसरे दर्जे को लेकर यहां-वहां वाद-विवाद बना रहा. . साथ ही मेरे जूते भी मुझे छीलते-काटते रहे. मैं भयानक रूप से लंगड़ाकर चलने लगा. चलते हुए मेरी एड़ियां प्रायः हवा में ही झूला करतीं और उंगलियां मानो आत्महत्या करने की गरज से रेत पर पड़ी जिंदा मछली की तरह तड़फड़ाया करतीं. घर, दफ्तर और परिचित मुझ पर हंसा-झुंझलाया करते. सलाह देते, टांग कट जाने की बातें करते. . . लेकिन मैं अपने अटूट संघर्ष के कारण किसी की बात नहीं मानता.

महंगाई भत्ते की देय किस्तें, वेतन आयोग की रिपोर्ट, आम चुनाव, आतंकवाद, राजनीति और दक्षिण अफ्रीका. . मेरे लिए सब कुछ जैसे जूतों में आकर समा गये. इन सब संदर्भों का एक ही अर्थ—मेरे जूते.

समय और गुजरा. आज का दिन भी आ गया.

सुबह उठा तो मैंने आदतन घावों पर जमी खाल को देखा, पूरी रात में चांदी के वर्क जितनी पतली पपड़ी जमा हो पायी थी. मैं अभी बिस्तर छोड़ने की हिम्मत बटोर ही रहा था कि चारपाई के नीचे रखे जूते उछले और मेरे पास आ गये.

"तुम इस काबिल बिल्कुल नहीं हो कि पैरों में पहनने के अलावा तुम्हारी कोई और बात मैं सुनूं. तुम्हारी जगह पैर में ही है, समझे!" मैंने उन्हें कहा और हिकारत से मुंह मोड़ लिया.

जवाब में जूतों की सिसकी सुनाई पड़ी. अब तक वे दोनों मेरी अगल-बगल लेट चुके थे.

"अब हमें माफ कर दो. महामुनियों की स्टाइल में हम तुम्हारी कोई परीक्षा तो ले नहीं रहे थे, लेकिन फिर भी तुम्हारे संघर्ष के आगे हम नत-मस्तक हैं, अब हम तुम्हें कोई दुख-दर्द नहीं देंगे. हम अपना विरोध तुम्हारी धैर्य और संघर्ष-शक्ति के आगे त्याग रहे हैं. हम खुद ही अपना आकार बदले ले रहे हैं. इस कदम में हुई देरी के लिए भी हमें कृपया क्षमा करें. यह बात भी सुन लें कि इसी के साथ हम शहीद होने जा रहे हैं. हमारा शरीर अलबत्ता तुम्हारे साथ बना रहेगा. आत्मा को हम स्वयं मार रहे हैं." कह कर जूते फिर सिसके, और तड़पकर ढुलक गये.

सच्चाई जानने के लिए मैंने जल्दी से जूते पहने और चार कदम चलकर देखा. वे अब वाकई नहीं काट रहे थे. मैंने प्यार से उन्हें गले लगा लिया, लेकिन जूते अब तक मर चुके थे. वे निस्पंद ही बने रहे. □

● 65/83 सेक्टर-3, रामकृष्ण आश्रम मार्ग, गोल मार्केट, नयी दिल्ली-1

समकालीन हिंदी कहानी : आठवां दशक

डॉ॰ कृष्णदत्त पालीवाल

सन् 70 तक पहुंचते-पहुंचते हिंदी कहानी ने साहित्य के अन्य रूपों की तुलना में केंद्रीय स्थान बना लिया. यह कथन इस दौर में जैसे सत्य सिद्ध हो गया कि जैसे-जैसे विचार बढ़ता जाता है, गद्य पनपता है और पद्य अपनी चादर समेटने लगता है. कहानी में सन् 50 के बाद चलने वाले 'नयी कहानी', 'सचेतन कहानी,' 'अकहानी' के आंदोलन दीर्घजीवी नहीं हुए. किसी बड़े 'बोध' और 'विजन' की कमी में उनका जल्दी चुक जाना स्वाभाविक था. इन आंदोलनों, उखाड़-पछाड़कर जमने और चर्चित होने का जोश अधिक था, सच्ची सृजनात्मकता के कथा-बीज बोने का साहस कम. कहानी या नयी कहानी को इन सभी ने अनुभव की हंडिया में धीरे-धीरे पकने नहीं दिया. इस दौर की 'नयी कहानी' पर रचनाकार का व्यक्तित्व और शिल्प इतना ज्यादा छाया रहा कि पकी फसल में कीड़े लग गये. वह भूल गया कि खुली धूप, चांदनी और हवा में ही अच्छी रचना और फसल सही ढंग से पनपती-फैलती और पकती है. इस दृष्टि से सन् 1970 के बाद जो नये कहानीकार हिंदी में आये—उनमें रचनाधर्मिता ने एक नयी जमीन पायी और बासी मुहावरा झटके के साथ टूटकर सिमट गया. कहानी जीवन की नयी जटिलताओं प्रश्नाकुलताओं, समस्याओं, स्थितियों, चुनौतियों के सामने खुले शिल्प और गहरे यथार्थ के साक्षात्कार के साथ खड़ी हुई.

रचनात्मक तनावों का यह दौर समांतर कहानी, जन कहानी, जनवादी कहानी, चोटधर्मी कहानी और टकरावभरी कहानी का रहा. कहानी और उपन्यास का रचनाकार इस विकास की गति में 'देश' और 'काल' के भीतर फैलने के साथ गहराई में उतर पड़ा. उसके अनुभव इतने जीवंत एवं अर्थवान हो उठे कि समस्याओं ने उसका तो खून ही खौला दिया. रचनाकर्म की इस भीतरी विवशता ने आठवें दशक के कहानीकारों को रचना का माध्यम मात्र बनाकर दम लिया. नया कहानीकार अनुभवों को शब्दों के हजार-हजार प्रतीकों-बिंबों में बांधकर प्रस्तुत कर उठा—भाषा उसके लिए अपर्याप्त न रही और तकनीक के अतिरिक्त मोह से उसने मुक्ति पा ली. इसलिए आठवें दशक की कहानियों में निरंतर आत्मपरीक्षण की स्थिति को स्थान मिलता गया. अब कहानी का संघर्ष दुहरा हो गया—अपने

छठे और सातवें दशक की हिंदी कहानी में बोध, संवेदन और अभिव्यक्ति के स्तर पर जो ठहराव आ गया था, उसे आठवें दशक के कहानीकारों ने निर्भयता और निर्ममता से तोड़ दिया है. समकालीन हिंदी कहानी के इतिहास में यह सब किस रूप में और कैसे घटित हुआ, बता रहे हैं बहुचर्चित कथा-आलोचक और विचारक डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल—

युग से और अहं के विसर्जन से. व्यक्तित्व बोध का जो रचनात्मक दंभ जैनेंद्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, मोहन राकेश, कमलेश्वर आदि को कुंडली मारे सांप की तरह तोड़ रहा था, वह यहां शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, कामतानाथ, भीष्म साहनी, राकेश वत्स, सतीश जमाली, रमेश बतरा, बलराम, धीरेंद्र अस्थाना, उदयप्रकाश, निरुपमा सेवती, मणिका मोहनी, चित्रा मुद्गल, मृणाल पांडे, संजीव, सुरेश उनियाल, राजी सेठ, शिवमूर्ति, नासिरा शर्मा, केशव, राजेश जोशी, राजकुमार गौतम, मिथिलेश्वर आदि की कहानियों में एकदम गायब हो गया.

इस दौर के कहानीकार को यह भ्रम नहीं रहा कि सामाजिक शोषण के खिलाफ कहानी रचने मात्र से सामाजिक दायित्व पूरा हो जाता है. उसने पहचान लिया कि यह एक घटिया नुस्खा और टूटा घाट है. उसने ईमानदारी से महसूस किया कि नागरिक दायित्व, सामाजिक दायित्व और रचना के दायित्व में बुनियादी तौर पर कोई फर्क नहीं है. रचनाकार ऊपर से नहीं उतरा है. वह अन्य नागरिकों की ही भांति धन के अभाव में पत्नी से गाली खाता, बस के पीछे भागता, नौकरी के लिए दफ्तरों की सीढ़ियां घिसता प्राणी है. वह न तो मानव आत्मा का डॉक्टर है, न इंजीनियर है, न वैज्ञानिक है, वह तो मात्र प्रतिक्षण बदलते विकसित होते समाज का परीक्षक है. इस दृष्टि से समाज का एक अपना समाज शास्त्र है, जिसे न फ्रायड बना सकते हैं, न मार्क्स बदल सकते हैं. न किर्केगार्द तथ्यों से बांध सकते हैं. क्योंकि साहित्य का सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनैतिक-ऐतिहासिक बोध एक संश्लिष्ट व्यापार है, जिसे चेतना नियंत्रित नहीं करती, परिस्थितियां निर्धारित करती हैं.

आठवें दशक की कहानियों की विशिष्ट बात यह है कि कहानी का सांचा और ढांचा पश्चिमी कहानियों की अनुकृति और प्रतिकृति नहीं रहा. कहानी का वह एक भारतीय सांचा उभरकर सामने आया—जिसमें तीनों काल एक साथ प्रवाहित होते हैं. जिसमें न अतीत मरता है न भविष्य फूटता है, न केवल वर्तमान अपनी वर्तमानता, निरंतरता, विकासमयता के साथ मानव को मथता-उद्वेलित करता चलता है. काल का जो कृत्रिम और अवास्तविक विभाजन पश्चिम में हुआ और जिस पर अस्तित्ववादी दर्शन ने अपनी जोरदार मुहर लगायी, उसका आदर भारतीय जीवन में नहीं रहा. यही कारण है यह कहानी-दौर आस्था बटोरते, अपने संकल्पों को पूरा करने की तैयारी करते आदमी का दौर है. आठवें दशक की कहानी फैलाव में नहीं प्रवाहित रही, धारा ने जमीन में धंसकर गहराई पैदा की है. पहले जो बात छिपाकर संकेतात्मक ढंग से कही जाती थी, वह आठवें दशक में उजागर तौर पर कही जाने लगी.

आठवें दशक की कहानियों ने संवाद तत्व में नाटकीयता, कलात्मकता, प्रतीकात्मकता और स्वच्छ स्पष्टता उत्पन्न की, जिससे उनका 'कथ्य' काफी दिलचस्प हो उठा. संवादों की व्यंजकता ने ध्वनि और भंगिमाओं का खुला विकास किया. मंजुल भगत ने 'मृत्यु की ओर' में मरणासन्न व्यक्ति में मां और पत्नी के अवचेतन का खुलासा किया तो रमेश बतरा ने 'लड़ाई' कहानी में प्राचीन कोरस के शिल्प का अच्छा उपयोग किया. मृदुला गर्ग ने 'दुनिया का कायदा' कहानी में पैसे के सामने मानवीयता की हत्या दिखायी तो सुरेंद्र तिवारी ने 'वार्ड नंबर टू' में सरकारी अस्पतालों की अमानवीयता का कच्चा चिट्ठा खोल दिया है. धीरेंद्र अस्थाना ने 'लोग हाशिए पर' में प्रेस कर्मचारियों की दयनीय स्थिति का खाका खींचा है. उदय प्रकाश ने 'टेपचू' में आदमी का अनकहा दर्द प्रतीकों में कह डाला. बलराम ने 'पालनहारे' में बालक हेमू का वह दर्द कह डाला, जिसमें राजा मोरध्वज रानी के साथ ऊपर से अपने पुत्र को काट रहे थे. मनीषराय

ने 'श्मशान से लौटते हुए' में जीवन के ढके अंगों से चादर हटा दी है. इन सभी कहानियों की संरचना अपनी बुनावट में काफी नयी है. सभी कहानीकार चाहे वह वामपंथी रुझान के हों या गैर मार्क्सवादी प्रतिबद्धता के हों, सभी में किसान-कारीगर के साथ एकाकार होनेवाली संवेदना मौजूद है. यह संवेदना मधुकर सिंह की कहानी 'लहू पुकारे आदमी', धीरेंद्र अस्थाना की 'सूरज लापता है' जैसी कहानियों में बड़ी शक्ति से उभरती है. इस संवेदना को गहरे यथार्थ की पकड़ देने के लिए रमेश उपाध्याय जैसे कहानीकार ने 'नदी के साथ एक रात' में प्रतीकात्मकता को फंतासी में उतार दिया है.

आठवें दशक के कहानीकारों ने कहानी के रूपवाद, संरचनावाद जैसे वाहियात तत्वों से जमकर संघर्ष किया और इन बुराइयों से कहानी को बचाने में ही उनकी अंतर्दृष्टि अधिक दीप्त रही.

महंगाई और आर्थिक तंगी ने आदमी को किस तरह पीस डाला है, यह सब कृष्णकांत प्रवासी को 'एक दिन का मनोरंजन', सुभाष पंत की 'लाश', रमेश बतरा की 'हटर', हेतु भारद्वाज की 'दिनचर्या', दिनेश पालीवाल की 'पुल टूटते हुए' आदि में पूरी विश्वसनीयता से मौजूद है. परिवार तो आर्थिक तंगी से टूटे ही, व्यक्ति भी भीतर से टूट गया. आर्थिक तंगी के घाव ने आदमी की करुणा को कुचलकर मार दिया. आर्थिक तंगी ने पति को ही झगड़ालू नहीं बना दिया, पत्नियों के मुंह में भी कुतरनेवाला सरौता लगा दिया. संबंधों की बेल धनाभाव में जल गयी और रंगीन सपने चटक कर दफना दिये गये. गांव और नगर महंगाई की मार में बेदम हो गये. समकालीन दांपत्य जीवन, पारिवारिक जीवन में जो दरार आयी है, उसके कारणों को आठवें दशक की यह कहानियां पूरी वैचारिक तार्किकता से उजागर करती हैं. आर्थिक व्यथा को कथ्य में इस ढंग से अन्वित किया जाता है कि कहानी की अंतर्योजना खंडित नहीं हो पाती. कहानी की अंतर्योजना की दृष्टि से धर्मेंद्र गुप्त की कहानी 'अपंग संज्ञा' एक नया मॉडल प्रस्तुत करती है. छोटी-छोटी घटनाओं, स्थितियों के जीवन में बड़े अर्थ होते हैं और वे अर्थ जीवन की गति को निर्धारित करते हैं. इस बात को आठवें दशक की कहानियों में बड़े कौशल से संकेतित किया गया है.

एक भीतरी संदर्भ में आठवें दशक की कहानी उस मामूली आदमी की लड़ाई का इतिहास उजागर करती है, जिसका चेहरा टुच्ची और मानवद्रोही राजनीति ने विकृत कर दिया है. मजबूरियों ने जिसके सिर में हथौड़े चलाये हैं और स्थितियों ने जिसके हाथों को लहूलुहान कर दिया है. महानगरों की भीड़ ने जिसे धकेलकर सताया है और पूंजीवादी उपभोक्तावादी संस्कृति ने जिसका शिकार किया है. धनकुमार की 'भीतर का आदमी', अजित पुष्कल की 'प्रतिरोध', कृष्णा अग्निहोत्री की 'एक और अश्वत्थामा,' ओम गोस्वामी की 'दर्द की मछली', सुधा अरोड़ा की 'दमनचक्र', सुनील कौशिक की 'अस्पताल' आदि ऐसी ही महत्वपूर्ण कहानियां हैं. इन कहानियों में सेठ, साहूकार, ठेकेदार, पुलिस, डॉक्टर वकील, प्रकाशक आदि का यथार्थ चित्रण है, जो हमारी सामाजिक समझ को गहराता है. घिसता-टूटता आदमी यादवेंद्र शर्मा चंद्र की 'स्वयं को निगलते हुए', विनोद भारद्वाज की 'मेरी उम्र बीस साल है,' मधुकर सिंह की 'कीर्तन', सुभाष पंत की 'तपती हुई जमीन', दिनेश पालीवाल की 'घिरता जटायु', मन्नू भंडारी की 'अलगाव' में देखते ही मन थर्राने लगता है, पर यह देखकर अच्छा लगता है कि आठवें दशक का कहानीकार आत्मकेंद्रित लेखन से बाहर आना चाहता है और बृहत्त सामाजिकता का अविच्छिन्न अंग बनकर वह दुख में परास्त होना नहीं जानता. आदमी बनाता है. अपने परिवेश से जूझते आदमी का यह संसार उसकी जययात्रा का भरोसा देता है. शोषण, उत्पीड़न, छटपटाहट, भय, थर्राहट, आतंक, मूल्यों का विघटन दिखाने पर भी इस कहानी की विचारधारा पराजयबोध, अपराधबोध की अस्तित्ववादी विचारधारा नहीं है. इसके तल में वह भारतीय विचारधारा प्रवाहित है कि असत् पर सत् की जीत होगी.

ठीक से देखा जाये तो आठवें दशक की कहानी यात्रा ने यह मिथ भी खंडित कर दिया है कि सार्थक सृजनात्मकता के लिए इस या उस विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता अनिवार्य होती है, क्योंकि विचारधारा का उलथा सृजनात्मकता नहीं है, बल्कि सच्ची बात यह है कि सृजनात्मकता को विचारधारा सही ज्ञान, दिशा और दृष्टि दे सकती है, पर सभी लेखकों को दिशा और दृष्टि दे सके, यह आवश्यक नहीं है. एक विशेष राजनीति से प्रेरित सृजनात्मकता अपने खाने स्वयं बना लेती है और उसका जरूरत से ज्यादा कसाव रचनात्मकता की शक्ति को वैसे ही नष्ट कर देता है. जैसे जरूरत से ज्यादा खाद-पानी पौधे को जला-सड़ा देता है. रचनात्मकता विचार और संवेदना के संतुलन से निखरती है, यह ठीक से जाने और माने बिना रचनाकार की गति नहीं है. रचनाकार मसीहा होने का दंभ पालेगा तो नष्ट हो जायेगा. कारण—रचना, सामाजिक-राजनीतिक विचारधारा से नहीं बनती, रचनाकार की सांस्कृतिक भट्ठी में तपकर गलकर नये स्पाकार में 'निर्मित' होती है, जिसे सामूहिक और वैयक्तिक अवचेतन मिलकर शक्ति देते हैं. इसी अर्थ में कहानीकार पेड़ लगाकर औरों को छाया और फल देने का आकांक्षी होता है. यही कला की निर्वैयक्तिकता है. अपने-पराये की भेद बुद्धि नष्ट कर अभेद और शिवत्व की ओर अनंत यात्रा है. इसी दृष्टि से 'सक्रिय कहानी', 'जनवादी कहानी' आदि उसके बेकार नारे हैं, घटिया बाड़े हैं, जिनसे पाठक को भटकाया तो जा सकता है, उसे आत्म-प्रबुद्धता नहीं दी जा सकती.

नयी कहानी का व्यक्तिवादी रुझान सामाजिक-राजनैतिक-संघर्ष के आड़े आता था. और मजेदार बात यह कि बदलते परिवेश में यह संघर्ष तेज हो रहा था. हालत यह हो गयी कि हर जागरूक रचनाकार परिवेश और अनुभव को परिभाषित-व्याख्यायित करने के लिए बाध्य हो उठा. राजनैतिक दलों के कार्यक्रमों की लाभभरी अवसरवादिता, मक्कारी, धोखेबाजी और फार्मूलाबद्ध तैयारी में सिद्धांतहीनता एवं सरलीकरण साफ दिखायी देने लगा था. उस पृष्ठभूमि में कहानीकारों ने अपनी चुप्पी तोड़ी और परिवेश की विविध विसंगतियों से सीधा साक्षात्कार किया. गोविंद मिश्र की कहानी 'गिद्ध', रवींद्र कालिया का 'काला रजिस्टर', कुंवर नारायण की 'संदिग्ध चालें', राजेंद्र यादव की 'सिंहवाहिनी' जैसी कहानियों में समाज की वह तस्वीर है, जिन्हें राजनैतिक-सामाजिक संबंधों की विसंगतियों ने पैदा किया है.

ध्यान देने की बात आठवें दशक की कहानियों में यह है कि अपनी बात कहने के लिए कहानीकार व्यंग्य-वक्रोक्ति, ध्वनि-भंगिमा, फंतासी से आगे बढ़कर 'आयरनी' और 'विट' का इस्तेमाल खुलकर करता है. इस कला का जरूरी नतीजा यह हुआ कि इस दशक की कहानियों में पहले जैसी अति-नाटकीयता, अतिभावुकता, अतियांत्रिकता और अतिरलीकरण से मुक्ति दृष्टिगत होती है. आठवें दशक का कहानीकार जीवन की कुरूपता, विडंबना, नीचता, स्वार्थपरता, राजनीतिक लुच्चापन, सामाजिक अन्याय, धार्मिक संवेदना की मुक्केबाजी, सौदेबाजी, दफ्तरी जिंदगी की कालौंच, ऊब, अकुलाहट को भाषा में कूद-उछलकर व्यक्त नहीं करता, एक सहज पहचान और इत्मीनान से परोसता है. कहानियां जीवन के विरोधाभासों को आमंत्रित करती हैं एवं विरोधाभासों का विलय करके सृजनात्मकता में शक्ति पैदा करती है. यहां रचना प्रक्रिया के दबाव में विरोधाभास गलते और ढलते हैं. कहानी एक जीवन तक ही नहीं, सबके जीवन तक पहुंचती है. उसके सृजन और संप्रेषण का एक रिश्ता बनता है. वह कथ्य के वज्र द्वार पर सिर पटक कर नहीं रह जाती, पाठक के नजदीक आती है और आत्मीय बन जाती है. मृदुला गर्ग की 'उसका

ने 'श्मशान से लौटते हुए' में जीवन के इके अंगों से चादर हटा दी है. इन सभी कहानियों की संरचना अपनी बुनावट में काफी नयी है. सभी कहानीकार चाहे वह वामपंथी रुझान के हों या गैर मार्क्सवादी प्रतिबद्धता के हों, सभी में किसान-कारीगर के साथ एकाकार होनेवाली संवेदना मौजूद है. यह संवेदना मधुकर सिंह की कहानी 'लहू पुकारे आदमी', धीरेंद्र अस्थाना की 'सूरज लापता है' जैसी कहानियों में बड़ी शक्ति से उभरती है. इस संवेदना को गहरे यथार्थ की पकड़ देने के लिए रमेश उपाध्याय जैसे कहानीकार ने 'नदी के साथ एक रात' में प्रतीकात्मकता को फंतासी में उतार दिया है.

आठवें दशक के कहानीकारों ने कहानी के रूपवाद, संरचनावाद जैसे वाहियात तत्वों से जमकर संघर्ष किया और इन बुराइयों से कहानी को बचाने में ही उनकी अंतर्दृष्टि अधिक दीप्त रही.

महंगाई और आर्थिक तंगी ने आदमी को किस तरह पीस डाला है, यह सब कृष्णकांत प्रवासी की 'एक दिन का मनोरंजन', सुभाष पंत की 'लाश', रमेश बतरा की 'हटर', हेतु भारद्वाज की 'दिनचर्या', दिनेश पालीवाल की 'पुल टूटते हुए' आदि में पूरी विश्वसनीयता से मौजूद है. परिवार तो आर्थिक तंगी से टूटे ही, व्यक्ति भी भीतर से टूट गया. आर्थिक तंगी के घाव ने आदमी की करुणा को कुचलकर मार दिया. आर्थिक तंगी ने पति को ही झगड़ालू नहीं बना दिया, पत्नियों के मुंह में भी कुतरनेवाला सरौता लगा दिया. संबंधों की बेल धनाभाव में जल गयी और रंगीन सपने चटक कर दफना दिये गये. गांव और नगर महंगाई की मार में बेदम हो गये. समकालीन दांपत्य जीवन, पारिवारिक जीवन में जो दरार आयी है, उसके कारणों को आठवें दशक की यह कहानियां पूरी वैचारिक तार्किकता से उजागर करती है. आर्थिक व्यथा को कथ्य में इस ढंग से अन्वित किया जाता है कि कहानी की अंतर्योजना खंडित नहीं हो पाती. कहानी की अंतर्योजना की दृष्टि से धर्मेंद्र गुप्त की कहानी 'अपंग संज्ञा' एक नया मॉडल प्रस्तुत करती है. छोटी-छोटी घटनाओं, स्थितियों के जीवन में बड़े अर्थ होते हैं और वे अर्थ जीवन की गति को निर्धारित करते हैं. इस बात को आठवें दशक की कहानियों में बड़े कौशल से संकेतित किया गया है.

एक भीतरी संदर्भ में आठवें दशक की कहानी उस मामूली आदमी की लड़ाई का इतिहास उजागर करती है, जिसका चेहरा टुच्ची और मानवद्रोही राजनीति ने विकृत कर दिया है. मजबूरियों ने जिसके सिर में हथौड़े चलाये हैं और स्थितियों ने जिसके हाथों को लहूलुहान कर दिया है. महानगरों की भीड़ ने जिसे धकेलकर सताया है और पूंजीवादी उपभोक्तावादी संस्कृति ने जिसका शिकार किया है. धनकुमार की 'भीतर का आदमी', अजित पुष्कल की 'प्रतिरोध', कृष्णा अग्निहोत्री की 'एक और अश्वत्थामा,' ओम गोस्वामी की 'दर्द की मछली', सुधा अरोड़ा की 'दमनचक्र', सुनील कौशिक की 'अस्पताल' आदि ऐसी ही महत्वपूर्ण कहानियां हैं. इन कहानियों में सेठ, साहूकार, ठेकेदार, पुलिस, डॉक्टर वकील, प्रकाशक आदि का यथार्थ चित्रण है, जो हमारी सामाजिक समझ को गहराता है. घिसता-टूटता आदमी यादवेंद्र शर्मा चंद्र की 'स्वयं को निगलते हुए', विनोद भारद्वाज की 'मेरी उम्र बीस साल है,' मधुकर सिंह की 'कीर्तन', सुभाष पंत की 'तपती हुई जमीन', दिनेश पालीवाल की 'गिरता जटायु', मन्नू भंडारी की 'अलगाव' में देखते ही मन घराने लगता है, पर यह देखकर अच्छा लगता है कि आठवें दशक का कहानीकार आत्मकेंद्रित लेखन से बाहर आना चाहता है और बृहत्त सामाजिकता का अविच्छिन्न अंग बनकर वह दुख में परास्त होना नहीं जानता. आदमी बनाता है. अपने परिवेश से जूझते आदमी का यह संसार उसकी जययात्रा का भरोसा देता है. शोषण, उत्पीड़न, छटपटाहट, भय, घरोंहट, आतंक, मूल्यों का विघटन दिखाने पर भी इस कहानी की विचारधारा पराजयबोध, अपराधबोध की अस्तित्ववादी विचारधारा नहीं है. इसके तल में वह भारतीय विचारधारा प्रवाहित है कि असत् पर सत् की जीत होगी.

ठीक से देखा जाये तो आठवें दशक की कहानी यात्रा ने यह मिथ भी खंडित कर दिया है कि सार्थक सृजनात्मकता के लिए इस या उस विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता अनिवार्य होती है, क्योंकि विचारधारा का उलथा सृजनात्मकता नहीं है, बल्कि सच्ची बात यह है कि सृजनात्मकता को विचारधारा सही ज्ञान, दिशा और दृष्टि दे सकती है, पर सभी लेखकों को दिशा और दृष्टि दे सके, यह आवश्यक नहीं है. एक विशेष राजनीति से प्रेरित सृजनात्मकता अपने खाने स्वयं बना लेती है और उसका जरूरत से ज्यादा कसाव रचनात्मकता की शक्ति को वैसे ही नष्ट कर देता है. जैसे जरूरत से ज्यादा खाद-पानी पौधे को जला-सड़ा देता है. रचनात्मकता विचार और संवेदना के संतुलन से निखरती है, यह ठीक से जाने और माने बिना रचनाकार की गति नहीं है. रचनाकार मसीहा होने का दंभ पालेगा तो नष्ट हो जायेगा. कारण— रचना, सामाजिक-राजनीतिक विचारधारा से नहीं बनती, रचनाकार की सांस्कृतिक भट्ठी में तपकर गलकर नये रूपाकार में 'निर्मित' होती है, जिसे सामूहिक और वैयक्तिक अवचेतन मिलकर शक्ति देते हैं. इसी अर्थ में कहानीकार पेड़ लगाकर औरों को छाया और फल देने का आकांक्षी होता है. यही कला की निर्वैयक्तिकता है. अपने-पराये की भेद बुद्धि नष्ट कर अभेद और शिवत्व की ओर अनंत यात्रा है. इसी दृष्टि से 'सक्रिय कहानी', 'जनवादी कहानी' आदि उसके बेकार नारे हैं, घटिया बाड़े हैं, जिनसे पाठक को भटकाया तो जा सकता है, उसे आत्म-प्रबुद्धता नहीं दी जा सकती.

नयी कहानी का व्यक्तिवादी रुझान सामाजिक-राजनैतिक-संघर्ष के आड़े आता था. और मजेदार बात यह कि बदलते परिवेश में यह संघर्ष तेज हो रहा था. हालत यह हो गयी कि हर जागरूक रचनाकार परिवेश और अनुभव को परिभाषित-व्याख्यायित करने के लिए बाध्य हो उठा. राजनैतिक दलों के कार्यक्रमों की लामभरी अवसरवादिता, मक्कारी, धोखेबाजी और फार्मूलाबद्ध तैयारी में सिद्धांतहीनता एवं सरलीकरण साफ दिखायी देने लगा था. उस पृष्ठभूमि में कहानीकारों ने अपनी चुप्पी तोड़ी और परिवेश की विविध विसंगतियों से सीधा साक्षात्कार किया. गोविंद मिश्र की कहानी 'गिद्ध', रवींद्र कालिया का 'काला रजिस्टर', कुंवर नारायण की 'संदिग्ध चालें', राजेंद्र यादव की 'सिंहवाहिनी' जैसी कहानियों में समाज की वह तस्वीर है, जिन्हें राजनैतिक-सामाजिक संबंधों की विसंगतियों ने पैदा किया है.

ध्यान देने की बात आठवें दशक की कहानियों में यह है कि अपनी बात कहने के लिए कहानीकार व्यंग्य-वक्रोक्ति, ध्वनि-भंगिमा, फंतासी से आगे बढ़कर 'आयरनी' और 'विट' का इस्तेमाल खुलकर करता है. इस कला का जरूरी नतीजा यह हुआ कि इस दशक की कहानियों में पहले जैसी अति-नाटकीयता, अतिभावुकता, अतियांत्रिकता और अतिरलीकरण से मुक्ति दृष्टिगत होती है. आठवें दशक का कहानीकार जीवन की कुरूपता, विडंबना, नीचता, स्वार्थपरता, राजनीतिक लुच्चापन, सामाजिक अन्याय, धार्मिक संवेदना की मुक्केबाजी, सौदेबाजी, दफ्तरी जिंदगी की कालौंच, ऊब, अकुलाहट को भाषा में कूद-उछलकर व्यक्त नहीं करता, एक सहज पहचान और इत्मीनान से परोसता है. कहानियां जीवन के विरोधाभासों को आमंत्रित करती है एवं विरोधाभासों का विलय करके सृजनात्मकता में शक्ति पैदा करती है. यहां रचना प्रक्रिया के दबाव में विरोधाभास गलते और ढलते हैं. कहानी एक जीवन तक ही नहीं, सबके जीवन तक पहुंचती है. उसके सृजन और संप्रेषण का एक रिश्ता बनता है. वह कथ्य के वज्र द्वार पर सिर पटक कर नहीं रह जाती, पाठक के नजदीक आती है और आत्मीय बन जाती है. मृदुला गर्ग की 'उसका

विद्रोह', सिम्मी हर्षिता की 'उसका मन', विष्णु प्रभाकर की 'पुल टूटने से पहले,' लक्ष्मीनारायण लाल की 'आत्मकथन', रामदरश मिश्र की 'मुर्दा मैदान,' मणिका मोहिनी की 'हम बुरे नहीं थे,' अभिमन्यु अनत की 'त्रिकोण', यादवेंद्र शर्मा चंद्र की 'महापुरुष', उदय प्रकाश की 'टेपचू', राजी सेठ की 'तीसरी हथेली,' महीप सिंह की 'पारदर्शक', कामतानाथ की 'संक्रमण', राजेंद्र अवस्थी की 'बंगला नंबर दस,' इब्राहीम शरीफ की 'पूर्वाभास', 'दिग्भ्रमित,' काशीनाथ सिंह की 'सूचना', सतीश जमाली की 'चुनौती' आदि इस दौर की ऐसी ही कहानियां हैं, जो आयरनी की कला में माहिर है. इनमें 'काल' इस ढंग से मौजूद है कि गायब नहीं होता, आंखों के सामने डटा रहता है. कहानियों की यह 'समकालीनता' जीवित वास्तविकता है. फैंटेसी और यथार्थ की दांत काटी दोस्ती ने 'जीवनवास्तव' को पुनर्सृजित किया है.

छठे-सातवें दशक का कहानीकार मोहभंग से उत्पन्न समस्याओं के नीचे दबा कहानीकार है, किंतु आठवें दशक का कहानीकार समस्याओं से टकराता है. कहानियों में यहां 'आदमी' समस्याओं से पीड़ित है, लेकिन खंडित नहीं है. यह 'बोध' आठवें दशक के कहानीकार को जीवट से मिल गया है कि समस्याएं कितनी ही बड़ी, जटिल, भयप्रद, तनावप्रद क्यों न हों, वे जीवन से बड़ी नहीं है. वह समस्याओं को कंधों पर बैठाये, पीठ पर चढ़ाये, दिमाग में रमाये चला जा रहा है. व्यक्तिगत वैकल्य और निराशा की तीव्र संवेदनाएं आदमी को छूकर निकल जाती हैं, उसका कुछ बिगाड़ नहीं पाती. इन कहानियों में चाहे वे महेश दर्पण की युवामन की कहानियां हों या ज्ञानरंजन के भारी अनुभव पाये मन की कहानियां हों, इनकी 'टोन' अधिक नजदीकी, सहज-संलापी और मुक्त मुखरता से युक्त है. कहानियां आंखों से उतरकर अंतर्जीवन को पकड़ती है. कारण, यहां कहानीकार मानवीय जीवन और व्यक्तिगत जीवन दोनों से परिचित और एकाकार है. बिना किसी अतिरिक्त विचारणा के वह अनुभवों को अर्थांतरित करता है. सौंदर्यानुभूति एवं जीवनानुभूति की अंतरंगता से संवेदनाघात सीधे और नुकीले हैं. पुराना कहानीकार प्रसाद और गुलेरी बनकर एक 'आवेग' में कथा को झोंक देता था, किंतु आज का कहानीकार ऐसा कभी नहीं कर पाता. यह नहीं कि वह जिंदादिली से शून्य है, बल्कि यह कि वह बौद्धिक अनुशासन से जीवन की जटिलता को उधेड़ने में व्यस्त रचनाकार है. फिर शब्दों में जीवनानुभूतियों को, विशेषकर जटिल अनुभव-अनुभूतियों को निचोड़ लानेवाले रचनाकार हर युग में बहुत कम होते हैं. आठवें दशक के रचनाकारों में बहुत कम हैं, जो कहानी में 'मूल बात' या 'जीवनविधि' या 'आंतरिक समस्यात्मकता' को शब्दों में निचोड़ पाते हैं. ज्यादातर तो रूढ़ि और अभ्यास-जड़ लीकों को तोड़ने में ही मस्त दिखायी देते हैं. समसामयिक चिंतन धाराओं, घटना-प्रवाहों, इतिहास की हलचलों की भरपूर रगड़ से उत्पन्न जटिलता ने प्रत्येक संवेदनशील रचनाकार को बौखला दिया है. परिवेश, परंपरा, जातीय इतिहास, गांव, पिता, घर, संस्कार, सपने, मध्यवर्गीय चारित्रिक मनःस्थितियां, सब मिलकर रचनाकार की सृजन चेतना को रौंदती दिखायी देती हैं. उसका संघर्ष कथ्य से, भाषा से, जटिल संवेदना से, प्राप्त ज्ञान से, अपने इतिहास से, मानवीय स्मृति से, मध्यवर्गीय संस्कारों से इस कदर बढ़ रहा है कि वह 'गदर' में घबराया आदमी-सा दिखता है. उसकी सज्जनता का तेज गायब है और उसकी मानवीयता को सब कुछ धुंधला-धुंधला नजर आता है.

यह ठीक है कि आज के पिटते-झगड़ते-समझौता करते आदमी के चेहरे को इस दशक की कहानियों में साफ देखा जा सकता है. उसके स्थायी भाव और अनुभाव यहां कुश्ती लड़ रहे हैं और जान-बूझकर जनवादी कहानीकार तक विचारधारा के सपाट कथनों से बचकर निकलते हैं. वह जो बाहर देखता है भीतर, से फूटकर रच देता है. इस दृष्टि से कहें तो यह 'भुगतते-खटते' व्यक्तियों की कहानियां हैं. कहानियों के 'स्थितिबोध' फसल से कौए उड़ाते आदमी की आवाज का स्वर है, लेकिन खलने वाली बात यह है कि आदमी की नियति को चक्रव्यूह में धकेल दिया गया है, जहां एक अभिमन्यु एक अन्यायी पीढ़ी के हाथों मरने को विवश है. ज्यादातर कहानियों में गहरी सामाजिकता की पकड़ नहीं है, सतह पर देखते आदमी की बड़बड़ाहट है. आठवें दशक के कहानीकार कहानियों में उन मिथकों को छूते तक नहीं, जिनमें हर युग का रचनाकार नया और व्यापक अर्थ निष्पन्न करता है. सामूहिक अवचेतन की इतनी बड़ी अवहेलना इस कहानी को नैतिक-सांस्कृतिक मूल्यबोध के स्तर पर बेहद कमजोर साबित करती है. हम जीभ लपलपाते सांपों को तो देखते हैं, लेकिन उन मगरमच्छों और घड़ियालों को नहीं देखते तो सब कुछ 'निगलकर' भी जल में चैन से मग्न हैं. नये कहानीकार को इन 'घड़ियालों' से टकराकर उनकी तबीयत साफ करनी होगी. पूंजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था के नियामक सांप नहीं, घड़ियाल हैं, उनको पहचानना होगा. इस पहचान के अभाव में आठवें दशक का कोई भी कहानीकार ऐसी कहानी नहीं लिख सका, जिसमें भारत का पूरा नरक मौजूद हो, जो आठवें दशक का 'आंतरिक इतिहास' कही जा सकती हो. क्यों इस दशक में 'कफन' और 'पूस की रात' जैसी रचनात्मक पकड़ पैदा नहीं हो सकी है. इस पर बार-बार सोचने की जरूरत है.

देश में सांस्कृतिकीकरण-राजनैतिकीकरण के नाम पर एक अराजकतावाद उभर रहा है. सन् 1980 में दक्षिण पंथियों की पराजय और वामपंथी दलों की थोड़ी-सी बंगाल-केरल भूमि में विजय प्राप्ति और शेष देश में कांग्रेस की पुनः वापसी से यह जाहिर हो गया है कि अभी जनता के पास कांग्रेस जैसा दूसरा विकल्प नहीं है. नक्सलपंथी क्रांति का अभ्यास भी जड़ों में जाकर नहीं हुआ. हिंदी प्रदेशों में 'क्रांतिकारिता' के नाम पर वह कहानी इस दौर में नहीं लिखी गयी, जो जनता की आंखों में आंसू बनकर थमी है. घनीभूत पीड़ा बरसने की तैयारी कर रही है और नया कहानीकार गांव की जन-व्याकुलता से कटकर शहरी मोह-यातना और टूटते संबंधों, भ्रष्ट अफसरों, भटकती प्रेमिकाओं की काहानियां लिखे जा रहा है. हिंदुस्तान के झंडे पर पड़नेवाले गाय के गोबर से जो गुबरैले पैदा होकर बढ़ रहे हैं, गुबरैले चढ़ रहे हैं, उनकी चिंता इस कहानी को होनी चाहिए थी, पर वह चिंता इस पूरे दौर में गायब है. इसलिए आठवें दशक की यह कहानियां भी अपने समय और समाज का प्रामाणिक अनुभव नहीं है.

अक्सर ध्यान इस बात पर भी जाता है कि इस दशक में एक भी ऐसा कहानीकार क्यों नहीं उभरा, जो परिवर्तनशील सामाजिक-आर्थिक शक्तियों की गहरी समझ का प्रमाण देता हो. ज्यादातर कहानियों में व्यवस्था विरोध का गुस्सा भर है. गुस्से का सृजनात्मक उपयोग किसी बड़ी तैयारी का प्रमाण नहीं देता. आज की उपभोक्तावादी संस्कृति किस तरह सिलसिलेवार ढंग से मानवतावादी मूल्यों का संहार कर रही है, इसकी चिंता तक कहानीकारों को नहीं है. सामाजिक-सांस्कृतिक वेदन तंत्र के साथ घनिष्ट संबंध की जो अवधारणा प्रेमचंद और यशपाल ने विकसित की थी, उसकी डोर ही हमारे हाथ से खिसकती जा रही है. यह सब होने पर भी अच्छी बात यह है कि प्रेमचंद से अज्ञेय और अज्ञेय से ब्रजेश्वर मदान तक की कहानियों में शिल्पगत परिष्कार और रूपान्वेषण की प्रक्रिया कई बारीकियों, लोकभाषा की संवेदनात्मक गतियों में विकसित होती देखी जा सकती है. छठे-सातवें दशक की कहानी में बोध-संवेदन और अभिव्यक्ति के स्तर पर जो ठहराव आ गया था, उसे आठवें दशक के कहानीकारों ने निर्भयता एवं निर्ममता से तोड़ दिया है. ऐसी स्थिति के कारण आठवें दशक के कहानीकारों ने सृजनात्मक संभावनाओं के लिए नयी दिशा और दृष्टि का भरोसा पैदा किया है. □